UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 8 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, 2018

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Co-ordinator, Centre for Advanced Study, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 8 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2018

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	
शोधलेख			
1.	वैदिक विज्ञान के अनुसार भक्ति योग का स्वरूप	आचार्य गुलाब कोठारी	1–5
2.	वेदों में भक्ति का स्वरूप	डॉ. देवेन्द्र कुमार शर्मा	6–10
3.	भक्ति का स्वरूप : साधना एवं प्रकार	आचार्य नटवरलाल जोशी	11–20
4.	वल्लभ सम्प्रदाय भक्ति–धारा: एक अनुशीलन	डॉ. आदित्य आंगिरस	21–31
5.	नारद एवं शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में भक्ति तत्त्व	डॉ. दीपमाला	32–37
6.	प्रेमा भक्ति : नारद एवं आळवारों के सन्दर्भ में	डॉ. लक्ष्मी अय्यर	38–41
7.	काश्मीर शैव दर्शन में भक्ति एवं भावना	डॉ. प्रतिभा दीक्षित	42–46
8.	काश्मीर शैव दर्शन : भक्ति का स्वरूप	कीर्तिका भट्टाचार्य	47–50
9.	भक्तियोग की साधना एवं वैशिष्ट्य	डॉ. नीलम	51–53

10.	भक्तिरसविमर्शः	फिरोज:	54-58
11.	वैष्णवागम में रुद्रयाग	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	59-70
12.	आचार्य अभिनव गुप्त सम्मत साधना पद्धति में मातृका की प्रधानता	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	71-74
13.	योग - स्वास्थ्य से समाधि तक एक वैश्विक मूल्य	डॉ. सुशिम दुबे	75-85
14.	चिकित्सायां वैदिकमन्त्रप्रयोगस्य औचित्यम्	प्रवीण कुमार शर्मा	86-88
15.	चिकित्सा क्षेत्र में योग	डॉ. नवनीत कुमार	89-95
16.	जीवन्त जीवन है योग	डॉ. मोनिका वर्मा	96-98
17.	Avatara In The Durga Sapta- Shati And Gita	Dr. Chaman Lal Raina	99-104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रथम आलेख 'वैदिक विज्ञान के अनुसार भक्तियोग का स्वरूप' में **राजस्थान पत्रिका** के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन शोध संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी गुलाब कोठारी ने ज्ञान, कर्म एवं उपासना काण्ड के अनुसार वैज्ञानिक विवेचन करते हुए भक्ति की सर्वोच्चता एवं महनीयता का सुतार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया है। भक्ति को ही मूलतत्त्व प्रतिपादित कर उसकी व्यापकता को सिद्ध करते हुए सरल शब्दों में जीवन दृष्टि का वैदिक विज्ञान सम्मत रूप परिभाषित कर साधकों के लिए अति महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अत: सादर प्रणाम।

द्वितीय आलेख में डॉ. देवेन्द्र कुमार शर्मा ने वैदिक भक्ति की विलक्षणता को सुप्रतिष्ठित किया है। वेदों में मूलत: एकेश्वरवाद, सर्वदेवमयता तथा भक्ति के साधनों का प्रामाणिक विवेचन कर स्तुत्य प्रयास किया है।

तृतीय आलेख 'भक्ति का स्वरूप : साधना एवं प्रकार' में प्रख्यात श्रीविद्योपासक आचार्य पं. नटवरलाल जोशी ने भक्ति के मार्मिक रहस्य को विवेचित किया है। सभी आचार्यों ने अन्त में भक्ति को अवलम्बन कर पूर्णता पाई है। भक्ति ही परमानन्द का प्रमुख साधन है। इसे प्रख्यात आचार्यों के वाक्यों से सुप्रमाणित किया है। भक्ति के रस रूप को भी सुतरां साधित किया है। भक्ति के विविध अङ्ग तथा उपाङ्गों का विवेचन करके आचार्य जी ने साधकों का महोपकार किया है। सर्वथा वन्दनीय है आचार्यचरण।

चतुर्थ आलेख 'वल्लभ सम्प्रदाय भक्ति धारा : एक अनुशीलन में' डॉ. आदित्य आङ्गिरस ने भारत में भक्ति दर्शन की उत्पत्ति के मूल स्रोत का अन्वेषण करते हुए उसमें वेदों तथा पुराणों की महिमामयी परम्परा को रेखांकित किया है तथा वल्लभाचार्य एवं उनके शिष्य सूरदास के पद्यों की मार्मिक मीमांसा कर महनीय कार्य किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद। पञ्चम आलेख 'नारद एवं शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में भक्ति तत्त्व' में डॉ. दीपमाला ने भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए भक्ति की परिभाषा सुस्पष्ट की है।

षष्ठ आलेख 'प्रेमाभक्ति : नारद एवं आळवारों के सन्दर्भ में' में डॉ. लक्ष्मी अय्यर ने आळवार भक्ति परम्परा तथा उनका वैशिष्ट्य सुन्दर रूप में प्रतिपादित किया है। भक्तिदर्शन में प्रेम का सर्वातिशयित्व भी सिद्ध किया है तथा सूर के पद्यों की आळवारों के साथ तुलना प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है। हार्दिक साधुवाद।

सप्तम आलेख 'काश्मीर शैवदर्शन में भक्ति एवं भावना' में डॉ. प्रतिभा दीक्षित ने गहन विवेचन प्रस्तुत करते हुए भावना एवं भक्ति का ऐक्य प्रतिष्ठित किया है। इसके साथ अनुग्रह एवं शक्तिपात का दार्शनिक महत्त्व सुनिरूपित किया है। अष्टम आलेख 'काश्मीर शैव दर्शन भक्ति का स्वरूप' में शैवदर्शन की दृष्टि से विवेचन करते हुए भक्ति को चिदानन्द लाभ के रूप में सिद्ध किया है।

नवम आलेख 'भक्ति योग की साधना और वैशिष्ट्य' में भगवद्गीता के आधार भक्तियोग का विवेचन किया गया है। दशम आलेख 'भक्तिरसविमर्श:' में चैतन्य मत के अनुसार भक्ति का रसत्व सिद्ध किया गया है तथा भक्ति ही एकमात्र रस है, यह भी अलंकारशास्त्र के अनुसार सिद्ध किया है।

एकादश आलेख 'वैष्णवागम के रुद्रयाग' में प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने वैष्णव आगमों की परम्परा में सुप्रतिष्ठित भगवान् रुद्र की महिमा का प्रमाण साधित किया है। वैष्णवागमों में रुद्रयाग एवं शिवमन्दिर की स्थापना का सुस्पष्ट आदेश प्राप्त होता है अत: इन मतों के पारस्परिक ऐक्य को सिद्ध करने का यह महनीय प्रयास है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

द्वादश आलेख 'आचार्य अभिनव गुप्त सम्मत साधना पद्धति में मातृका की प्रधानता' सिद्ध की गई है। भगवती शब्दार्थरूपा है, यह भी सिद्ध करने का विनम्र प्रयास हुआ है।

त्रयोदश आलेख 'योग : स्वास्थ्य से समाधि तक एक वैश्विक मूल्य' में डॉ. सुशिम दुबे के द्वारा सर्वोच्च मूल्य की प्रतिष्ठा की गई है। योग दर्शन के अष्टाङ्ग किस प्रकार सम्पूर्ण विश्व को शान्त एवं सर्वोच्च स्थिति में ले जा सकते हैं, यह वैदुष्यपूर्ण रूप से सिद्ध किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

चतुर्दश आलेख 'चिकित्सायां वैदिकमन्त्रप्रयोगस्य औचित्यम्' में चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले वैदिक मन्त्र प्रक्रिया को सुस्पष्ट किया गया है तथा नीरोगता के मार्ग को प्राप्त करने का मार्ग सुस्पष्ट किया है।

पन्द्रहवें आलेख 'चिकित्सा क्षेत्र में योग' में वर्तमान युग की महत्त्वपूर्ण भूमिका को सुप्रतिष्ठित किया गया है। योग आज स्वस्थ जीवन का निरापद आधार है तथा इसकी महनीय उपयोगिता भी सिद्ध की गई है।

इसी क्रम में सोलहवें आलेख 'जीवन्त जीवन है योग' में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका सुस्पष्ट की है। इसमें अष्टाङ्ग योग की नई दृष्टि से समीक्षा की गई है।

अन्तिम आलेख '' में डॉ. चमनलाल रैना ने इन ग्रन्थद्वयी में प्रस्तुत अवतारवाद की दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत की है, एतदर्थ सादर प्रणाम।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
rajendrasharmauniraj@gmail.com

वैदिक विज्ञान के अनुसार भक्ति योग का स्वरूप

आचार्य गुलाब कोठारी

गीता में कृष्ण ने अव्यय-अक्षर-क्षर के सृष्टि स्वरूप की व्याख्या की है और स्वयं को अव्यय पुरुष की उपाधि भी दी है। उसी आधार पर कर्म, ज्ञान और भक्ति का विवेचन भी किया है। पुरुष और प्रकृति के सांख्य स्वरूप को भी प्रतिपादित किया है।

जो सर्वज्ञ है, जिसका तप ज्ञानमय है उससे ब्रह्म-नामरूप-अन्न तीनों तत्त्वों का विकास होता है। यह विकासक तत्त्व प्रकृति (अक्षर) ही है। वही अव्यय के ज्ञान से मनोमयी सर्वज्ञा है, क्षर के अर्थभाग से सर्वार्थमयी है। तथा अपने प्राण व्यापार से तपोमयी है। इसी तप से ज्ञान भाग द्वारा नाम रूप का विकास होता है, अर्थ भाग से ब्रह्म का तथा प्राण भाग से अन्न का विकास होता है। इन्हीं का नाम क्रमशः ज्ञान, कर्म और भक्ति है। ये तीनों के विवर्त ही है।

अर्थ ही सत्ता है, प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा ही ब्रह्म है। यही आधिभौतिक विश्व है। प्रकृति सिद्ध, अर्थप्रधान कर्म योग है। प्रकाश ही ज्योति है, ज्ञान है। नाम रूप दोनों भातिलक्षण ज्योति है। नामरूप से ही विश्व प्रकाशित है। यह आधिदैविक सृष्टि है। यही ज्ञान प्रधान ज्ञानयोग है। (प्रकृति सिद्ध)। इसी प्रकार आदान-विसर्ग का संगमन ही यज्ञ है। यज्ञ ही अन्न है। '**यज्ञो वोऽन्नम्**' (*शतपथ ब्राह्मण*)। सभी कर्मों की सीमा इस आदान-विसर्ग रूप अन्न यज्ञ पर ही टिकी है। संसार का सारा क्रिया भाव आदान-विसर्ग रूप यज्ञ ही है। ज्ञान ज्योति एवं अर्थ (प्रतिष्ठा) के मध्य यज्ञ ही सबन्ध सूत्र है। उभयभाव युक्त ही भक्तियोग है। तीनों लक्षण सर्वत्र व्याप्त हैं।

विकास भाव है ज्ञानयोग, स्थितिभाव कर्मयोग है एवं गतिभाव भक्तियोग है। ज्ञान अव्यय सापेक्ष है, अर्थ क्षर स्थिति भावयुक्त क्षर विभूति है। गतिभाव क्रिया सापेक्ष अक्षर की विभूति है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्। (*ईशोपनिषत्*)

प्रत्येक वस्तु में विकास भी है, स्थिति भी है और गति भी। सभी पदार्थों में अव्यय-अक्षर-क्षर रूप में विश्वात्मा प्रतिष्ठित है। यही ज्ञान, कर्म, भक्ति योगों की सर्वव्यापकता है।

जो असीम को ससीम बना दे वह माया है। अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर देती है। प्रकृति ही माया है। अक्षर रूपा महामाया ने परात्पर को सीमित कर दिया। महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित योगमाया ने (क्षर रूप)

जन्मदात्री महामाया को भी सीमित कर दिया। क्षर माया अक्षर महामाया के गर्भ में साथ रहती है, अतः योगमाया कही जाती है। 'योग' शब्द के कारण विष्णु-ब्रह्मा-इन्द्र तीनों की मायाएँ योगमाया हैं। ये क्रमशः पालन, उत्पत्ति और संहार की प्रवर्तिका हैं।

ब्रह्ममाया शुक्र-शोणित के योग से, रयि-प्राण के योग से चेतन-अचेतन के जन्म का हेतु बनती है। किन्तु इसका आधार विष्णुमाया है। शुक्र-शोणित अन्न से बनते हैं। शोणित में शुक्राहुति भी वैष्णव यज्ञ ही है। योगमाया मूल में विष्णुमाया का ही नाम है। दो वस्तुओं के मिलने को योग कहते हैं। इन्द्रमाया विखण्डन करती है, खण्ड-खण्ड करती है। यही संहार या वियोग है। अयोग माया है।

प्रेम और भक्ति पर्यायवाची हैं। प्रेम करना ही भक्ति है। इसका सूत्र है समर्पण अर्थात् व्यक्ति स्वयं के बारे में कुछ भी नहीं सोचता। सच तो यह है कि स्वयं का भान ही नहीं रहता। स्वयं खो जाता है। केवल साध्य रह जाता है। भक्ति का अर्थ ही है-अंश हो जाना। लीन हो जाना। '**प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाय।**' अर्थात् जैसे विवाह के बाद पत्नी-पति में में लीन हो जाती है, यज्ञ कार्यों में सोम अग्नि में आहूत हो जाता है, वैसे ही प्रेम और भक्ति दोनों एकाकार हो जाते हैं। यही जीवन की पूर्णता है।

गीता कृष्ण की पूर्णता का प्रमाण है। त्रिगुण के आवरण ही व्यक्ति को, उसके कर्म और फलों को, दूसरों से अलग करते हैं। अतः सबको एक सूत्र में बांधने के स्थान पर गीता ने तीन सूत्र दिए हैं। जिनका मन इन्द्रियों में रमा रहता है, उसके लिए कर्मयोग, आत्मा से जुड़कर चलने वाले मन के लिए ज्ञानयोग तथा अव्यक्त या पराशक्ति से सबन्ध रखने वाले मन के लिए भक्तियोग का विवेचन किया। अन्त में बुद्धियोग के माध्यम से तीनों को एक शिखर पर मिला दिया। मन ही जीवन की दिशा तय करने वाला स्रोत है। जब यह सृष्टि की ओर चलता है तब बाहर गति करता है। प्राण और वाक् से जुड़ता है। कर्मक्षेत्र प्रबल हो जाता है। यही मन जब ऊर्ध्वगामी होने लगता है तब विज्ञान (प्रज्ञा) के माध्यम से आनन्द में प्रतिष्ठित होने लगता है। चूंकि अव्यक्त (अक्षर) ही व्यक्त (क्षर) का आधार होता है, अतः व्यक्त के माध्यम से ही अव्यक्त तक की यात्रा तय की जाती है। प्रेम भी शरीर के सहारे, अव्यक्त मन से, आत्मा से किया जाता है। प्रेम के माध्यम से जीवात्मा प्रयास करता है कि किसी तरह ईश्वर अंश की अभिव्यक्ति का अधिकारी बन जाए।

शारीरक आत्मा के भेद से भक्ति के तीन भेद किए हैं—ज्ञानात्मक, कर्मात्मक, उपासनात्मक। तीनों में ज्ञान और कर्म का समावेश है। ईश्वर के प्रति समर्पण भाव भी है। अतः तीनों भक्ति मार्ग ही हैं। ज्ञानयोग भी तीन तरह का है। जिसमें केवल निवृत्त कर्म होगा, धारण-ध्यान-समाधि-रूप जीव-ईश्वर का चिन्तन होगा। अर्थात् जहाँ कर्म भी निर्गुण और उपासना भी निर्गुण हो, लोकसंग्रह का पूर्ण अभाव हो, उसे ज्ञानात्मक ज्ञानयोग कहेंगे। जहाँ प्रधानता निवृत्ति कर्म की हो, तथा अंशभाव में लोकसंग्रह भी रहे, यानी उपासना निर्गुण की, झुकाव सगुण की ओर भी रहे, उसे कर्मात्मक ज्ञानयोग कहा जाएगा। जिसमें उपासना निर्गुण की हो, साधन रूप में सगुण रहे, निष्काम रूप लोकसंग्रह कर्म भी बने रहें-उसे भक्त्यात्मक-ज्ञानयोग कहा जाएगा।

लोकसंग्रह पर दृष्टि होने के कारण भक्ति-ज्ञानयोग को श्रेष्ठ कहा गया है। इसमें स्वार्थ के साथ परमार्थ भी रहता है।

इसी प्रकार कर्मयोग को भी तीनों ही धरातलों पर देखा जा सकता है। जिसमें अव्यक्त के ज्ञान तथा अव्यक्त उपासना के साथ लोकसंग्रह भी रहे, वह ज्ञानात्मक कर्मयोग है। जहाँ लोकसंग्रह के व्यक्त कर्मों की प्रधानता हो, वैसी ही उपासना हो, वह कर्मात्मक-कर्मयोग है। जहाँ ईश्वर की अनन्यता को प्रधान बनाकर लोकसंग्रह के व्यक्त कर्म किए जाएँ, वह भक्त्यात्मक कर्मयोग है। यहाँ भी भक्त्यात्मक कर्मयोग ही श्रेष्ठ माना है, क्योंकि ज्ञान और कर्म के साथ ईश्वर की अनन्यता का विकास भी है।

ज्ञानात्मक भक्तियोग में ज्ञान और कर्म दोनों ईश्वर की अनन्यता के अनुरूप रहते हैं, किन्तु लोकसंग्रह में ज्ञान दृष्टि रहती है, लोकसंग्रह की नहीं। जहाँ ज्ञान चर्चा अव्यक्त की और लोकसंग्रह व्यक्त कर्मों पर टिका हो, वह कर्म प्रधान भक्तियोग है। जहाँ अव्यक्त के ज्ञान और क्षर के कर्म (लोकसंग्रह) पर समान दृष्टि हो, वह भक्ति प्रधान भक्तियोग है। इसमें समत्व का विकास है और लोकसंग्रह की पूर्ण रक्षा भी है।

ज्ञानात्मक भक्तियोग

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ — *गीता-9-13*

अर्थात्-हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतों का सनातन कारण और नाशरहित अक्षर स्वरूप जानकर अनन्य मन से युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।

भक्त्यात्मक भक्तियोग

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ — *गीता-9-29*

अर्थात्-मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ — *गीता-9-34*

अर्थात्-मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्मा को मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।

कर्मात्मक भक्तियोग

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ — *गीता-9-27*

अर्थात्-हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ — *गीता-7-28*

अर्थात्-निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेष जनित द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त दृढ़ निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकार से भजते हैं।

यह तो हुआ सिद्धान्त पक्ष। व्यवहार पक्ष में तो समूर्ण जीवन की सार्थकता ही भक्ति है। भक्ति में प्रेम है, रस है, आनन्द है, मोक्ष की अवधारणा को प्रतिफलित करने वाली अवधारणा है। नर से नारायण बनने का सरलतम मार्ग है। हम चाहे शरीरजीवी हों, बुद्धिजीवी हों, मनस्वी हों, भक्ति के अभाव में जीवन भी अभावग्रस्त ही रहेगा। क्योंकि शरीर, मन और बुद्धि तीनों ही जीने के साधन हैं। मैं साधन नहीं हूँ। मैं आत्मरूप हूँ। **अहं ब्रह्मास्मि। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतसनातनः।** अतः इन साधनों को मेरे लिए कार्य करना पड़ेगा, मेरे साथ एकाकार होकर रहना होगा। मेरा अंग बनकर, भक्त बनकर ज्ञानयुक्त कर्म करना पड़ेगा। आत्मा स्वयं आत्म ज्योति है। समूर्ण जीवन कर्म रूप यज्ञ ही है। आदान-विसर्ग के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है। समझना यह है कि यह आदान-विसर्ग किसके बीच होता है। मैं बोल रहा हूँ, आप सुन रहे हैं। यह आदान-विसर्ग ही है। मेरी वाक् आपकी ज्ञानाग्नि में आहूत हो रही है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि मैं कौन हूँ और 'आप' कौन हैं? आप और मैं दोनों ही साधन नहीं हैं। मेरी आत्मा आपकी आत्मा को, ईश्वर तत्त्व को, सम्बोधित करे, यही भक्ति है। यही ईश्वर की पूजा है। भक्ति योग है।

इसके विपरीत मैं यदि अपनी बात मात्र शरीर, मन अथवा बुद्धि द्वारा कहूँगा तो लोकसंग्रह का भाव भी घटता चला जाएगा। आत्मा तक पहुँच तो होगी ही नहीं। श्रद्धा, स्नेह और वात्सल्य का भी अभाव रहेगा। बुद्धि का संप्रेषण बुद्धि को ही पहुँचाता है और मन का संप्रेषण मन तक। आत्मा से कुछ जुड़ता ही नहीं। तब मेरी प्रार्थना ईश्वर तक कैसे पहुँचेगी? मेरी आत्मा ही तो मेरा ईश्वर है। यानी कि क्या कहा गया, उसका प्रभाव कहीं होता ही नहीं। अर्थात् जिस उद्देश्य को लक्ष्य करके सम्प्रेषण किया जाता है, वह लक्ष्य प्राप्त ही नहीं हो सकता। रूपान्तरण का कार्य तो आत्मा के स्तर पर ही हो सकता है। आप देखिए, विश्व में प्रतिवर्ष हजारों शान्ति सम्मेलन होते हैं और अशान्ति ही बढ़ रही है। हमारा स्वार्थ, हमारा अहंकार हमको किसी के

आगे समर्पण करने ही नहीं देता। जब तक मैं सामने वाले को ईश्वर मानकर श्रद्धा से सबोधित नहीं करूंगा, मुझ पर ईश्वर की कृपा कैसे होगी। जो मैं हूँ, वही तू भी है-यही भक्ति मार्ग है।

भक्ति का दूसरा श्रेष्ठ उदाहरण सेवा है। सेवा तन, मन, धन सबसे होती है। इतना ही काफी नहीं है सेवा में। पहली शर्त है मन का द्रवण, करुणा का भाव ताकि रोगी की पीड़ा आपको अपनी पीड़ा लगने लग जाए। हम अपने अस्तित्व को भूल जाएँ। हमारा आत्मा सेवा में जुट जाए। हमें रोगी का तन-मन भी याद न आए, उन पर ध्यान न अटके। हम लक्ष्य करें रोगी की आत्मा को, उसकी सेवा को। सेवा से रोगी प्रसन्न होगा। क्या उसका तन और मन प्रसन्न हो सकते हैं? ये तो साधन हैं अपने भी, रोगी के भी। आनन्द तो आत्मा का गुण है। जब उसकी आत्मा आनन्दित होगी, तभी वह आनन्द आपकी आत्मा को भी छू पाएगा। बुद्धि-बुद्धि को छूती है, मन-मन को छूता है। इनसे रूपान्तरण नहीं हो सकता। रोगी की आत्मा जब प्रसन्न होगी, तब उसकी आत्मा हमारी आत्मा को छू पाएगी। तब। रोगी में आपको अपनी छवि दिखाई पड़ेगी। दोनों एकाकार हो जाएँगे। 'ममेवांशो जीवलोके' कहा था ना कृष्ण ने गीता में। दोनों तरफ वही है। हमने नर रूप में नारायण की ही सेवा की। आत्मा ने आत्मा की सेवा की। कृष्ण ने कृष्ण की सेवा की। मुझे अपने कृष्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं था, सेवा ने करवा दिया। इसीलिए कहा है- '**परहित सरिस धरम नहीं भाई**' और यह भी कहा है कि हम दूसरों के कल्याण के लिए जब कोई कार्य पूर्ण मनोयोग से करते हैं, तब हम अपना ही कल्याण करते हैं। यही भक्ति का फल है। यही '**वसुधैव कुटुबकम्**' का मार्ग है।

प्रधान सम्पादक, राजस्थान पत्रिका,
पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन एवं शोधपीठ संस्थान,
गोल्डसुक, तीसरी मंजिल,
मालवीय नगर, जयपुर-302017

वेदों में भक्ति का स्वरूप

डॉ. देवेन्द्र कुमार शर्मा

वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय हैं। भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार वेद अपौरुषेय अथवा सर्वज्ञ स्वयं भगवान् की लोकहिताय रचना है। मनु महाराज ने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। — *मनु स्मृति,* 2/13

अर्थात् धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए मुख्य प्रमाण एकमात्र श्रुति है। अत: श्रुति के अनुकूल ही इतर स्मृति-पुराणादि के वचन प्रामाणिक एवं ग्राह्य माने जाते हैं। श्रुति विरुद्ध कोई भी वचन प्रामाणिक नहीं माना जाता।

वेद वस्तुत: भक्ति के आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्ति का स्वरूप समझ लें तो वेदों में वर्णित भक्ति तत्त्व को समझने में सुगमता होगी। भक्ति का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है—**'सा पुरानुरक्तिरीश्वरे'** अर्थात् परमेश्वर में अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पण की उत्कट आकाङ्क्षा को 'भक्ति' कहा गया है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि 'भक्ति' शब्द 'भज सेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है अर्थात् भक्ति हृदय की उस भावना का नाम है जिसमें साधक जहाँ एक ओर पूर्ण भाव से ब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्म द्वारा रचित इस समस्त सृष्टि के प्रति सेवा की भावना रखने वाला भी हो। जैसा कि *शुक्ल यजुर्वेद* में कहा है—

दृते हं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

वेद का भक्त कहता है "हे समर्थ, मुझे शक्ति सम्पन्न बनाओ। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।"

भक्ति और शक्ति

वैदिक भक्ति की एक और विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकाल में लोप हो गया। वह यह कि वेद में आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसमें उपासक, साधक अथवा भक्त अपने को अधम, नीच,

पापी, खल, दुष्ट अथवा पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभु को किसी प्रकार का उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेद में भक्ति के साथ शक्ति का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है। इसलिए वेद में भक्त प्रभु को तेज, वीर्य, बल, ओज और सहनशक्ति का अजस्र भण्डार मानता हुआ उससे तेज, बल और सहनशक्ति की कामना करता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयं धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि।।

वेद का भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है। यह इस मन्त्र के अंश में देखिए—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

मेरे दाएँ हाथ में कार्यशक्ति और बाएँ हाथ में विजय है।

भजनीय परमेश्वर का स्तुत्य महत्त्व

वैदिक संहिताओं में परमेश्वर के भक्तिवर्धक स्तुत्य का अनेक प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है, जैसे—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि
त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।

त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते
त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या।।

हे अग्ने परमात्मन्! तू इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य से सम्पन्न है, इसलिए तू सज्जनों के लिए वृषभ अर्थात् उनकी समस्त कामनाओं का पूरक है। तू विष्णु है—विभु व्यापक है, इसलिए तु उरुगाय है, बहुत-से गानों के द्वारा स्तुति करने के योग्य एवं नमस्कार्य है।

एकेश्वरवाद

वह सर्वेश्वर भगवान् एक ही है, वह एक ही अनेक नामों के द्वारा स्तूयमान होता है एवं विविध साकार विग्रहों के द्वारा समुपास्य बनता है। उस एक के अनेक नाम एवं भक्त-भावना-समुद्भासित विविध विग्रह होने पर भी उसकी एकता अक्षुण्ण ही रहती है। यह सिद्धान्त वैदिक संहिताओं में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः। — *ऋग्वेद*, 1/164/46

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। — *ऋग्वेद*, 1/164/46, *अथर्ववेद*, 9/10/28

अर्थात् तत्त्वदर्शी मेधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वर को ही इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि विविध नामों से पुकारते हैं। एक ही सद् ब्रह्म को साकार-निराकारादि अनेक प्रकार से कहते हैं—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। — *ऋग्वेद*, 10/114/5

तत्त्वविद् विद्वान् शोभन पूर्ण लक्षणों से युक्त उस एक सत्य-ब्रह्म की अनेक वचनों द्वारा बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं।

सर्वदेवमय इन्द्र परमात्मा

यो देवानां नामधा एक एव। — *ऋग्वेद*, 10/22/3, *शुक्ल यजुर्वेद* 17/27

यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। —*ऋग्वेद* 10/82/6

एक ही परमात्मा देवों के अनेक नाम धारण करता है और उसी एक परब्रह्म में सभी देव आत्मभाव से सङ्गत हो जाते हैं। अत एव *शुक्ल यजुर्वेद संहिता* में भी एक इन्द्र परमात्मा ही सर्वदेव मय है एवं समस्त देव एक इन्द्रस्वरूप ही हैं। इसका स्पष्टतः वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अग्निश्च म इन्द्र मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।

नाम भक्ति और रूप भक्ति

यह जीव अनादिकाल से संसार के कल्पित नाम रूपों मे आसक्त होकर विविध प्रकार के दुःखों को भोग रहा है। अतः इस दुःखजनक आसक्ति से छूटने के लिए हमारे स्वतः प्रमाण वेदों ने **विषस्यौषधं विषम्, कण्टकस्य निवृत्तिः कण्टकेन** की भाँति श्री भगवान् के पावन मधुरतम मङ्गलमय नामों की दिव्यतम साकार रूपों की भक्ति का उपदेश दिया है। जैसे—

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। — *ऋग्वेद* 3/37/3, *अथर्ववेद*, 20/19/3

हे अनन्त ज्ञान निधि भगवन् आपके पावन नामों का परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार वाणियों के द्वारा भक्ति के साथ हम उच्चारण करते रहते हैं—

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। — *ऋग्वेद*, 8/11/5

अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान् के महिमामय नाम का हम श्रद्धा के साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।

इसी प्रकार उपासना के लिए दिव्य रूपवान साकार विग्रहों का भी वर्णन किया गया है, जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगयां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः। — *ऋग्वेद*, 2/35/10

अजायमानो बहुधा वि जायते। — *शुक्ल यजुर्वेद* 31/19

वह प्रजापति परमेश्वर निराकार रूप से वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्ति द्वारा भक्तों की भावना के अनुसार उपासना की सिद्धि के लिए साकार विग्रहों से बहुधा जायमान होता है।

वह एक ही सर्वेश्वर भगवान् पूर्ण है, व्याप्त है अभिन्न स्वरूप है।

आप्रा द्यावा पृथिवि अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।। — *ऋग्वेद* 1/115/1 एवं *यजुर्वेद* 7/42

भक्ति के साधन

वैदिक संहिताओं में सत्संग, श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादि दोष निवारण आदि अनेक भक्ति के साधनों का वर्णन मिलता है। उन्हें यहाँ अत्यन्त संक्षेप में प्रदर्शित किया जाता है—

(1) सत्संग — पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि। — *ऋग्वेद* 5/51/15

दानशील-उदार स्वभाव वाले, विश्वासघातादि दोषरहित, विवेक विचारशील ज्ञानी भक्त की हम बार-बार सङ्गति करते रहें। इस मन्त्र में भक्ति के हेतु भूत सत्संग का स्पष्ट वर्णन है।

(2) श्रद्धा — श्रद्धया सत्यमाप्यते। — *शुक्ल यजुर्वेद*, 19/30

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः। — *ऋग्वेद* 10/151/5

श्रद्धा विश्वास द्वारा सत्य परमात्मा की प्राप्ति होती है। हे श्रद्धा देवी! हमारे हृदय में रहकर तू हमें श्रद्धालु आस्तिक बना।

(3) अद्रोह — मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। — *शुक्ल यजुर्वेद* 36/18

अर्थात् मित्र भाव की दृष्टि से मैं समस्त विश्व को देखता हूँ।

(4) दान-दक्षिणा — शतहस्त समाहार सहस्रहस्तं सं किर। — *अथर्ववेद* 3/24/5

हे मानव! सौ हाथ के उत्साह एवं प्रयत्न द्वारा तू धन-धान्यादि का सम्पादन कर और हजार हाथ की उदारता द्वारा तू उसका दान कर।

प्रणीयादिन्नाधमानाय तत्यान्। — *ऋग्वेद* 10/117/5

धनवान् सत्कार्य के लिए याचना करने वाले सत्पात्र को धनादि का अवश्य दान करे।

केवलाघो भवति केवलादी। — *ऋग्वेद* 10/117/6

अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदि को न देकर जो केवल अकेला ही अन्नादि खाता है वह अन्न नहीं मानो पाप ही खाता है। इसलिए शक्ति के अनुसार अन्यों को देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिए।

(6) ब्रह्मचर्य संयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। — *अथर्ववेद* 11/5/19

ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके द्वारा ही मानव दैवी सम्पत्ति सम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्ति का सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्यु का विध्वंस कर देते हें।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः। — *ऋग्वेद* 1/90/8, *यजुर्वेद* 13/29

हे प्रभो, मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम सदाचार द्वारा प्रसन्नता युक्त बनी रहें।

इस प्रकार वेदों की परम प्रामाणिक संहिताओं में भगवद्भक्ति के अनेक साधनों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनों में सत्संग नन्दनवन है, संयम कल्पवृक्ष है और श्रद्धा कामधेनु है। जब साधक इस दिव्य नन्दन वन के कल्पवृक्ष की शीतल मधुमयी छाया में बैठकर कामधेनु का अनुग्रह प्राप्त करता है, तब उसी समय आनन्दमयी, अमृतमयी, शान्तिमयी, भक्तिमाता का प्राकट्य हो जाता है और साधक का जीवन कल्याणमय, धन्य एवं कृतार्थ हो जाता है।

सहायकाचार्य—वेद,
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय,
ग्राम - मदाऊ, पोस्ट - भांकरोटा,
जयपुर (राजस्थान)।
दूरभाष-9887669869

भक्ति का स्वरूप : साधना एवं प्रकार

आचार्य नटवरलाल जोशी

नमः शिवाय शान्ताय त्रिपुरालिङ्गिताय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय महते परमात्मने।। — श्री करपात्र स्वामी, *वेदार्थ पारिजात*

महामहीयसी भगवत् प्रेम मतवाली भक्तिमती मीरा ने गाया है—

मेरे तो गिरिधर गोपाल और दूसरो न कोई।
जाके सिर पर मोर मुकुट मेरो पति सोई।।

विश्व के अद्वितीय दार्शनिक सम्राट्, यचितचक्रचूडामणी, वेदान्तशिरोमणी, अद्वैतभानु, षण्मत-प्रस्थापनाचार्य प्रस्थानत्रयी के भाष्यकर्त्ता आद्य जगद्गुरु शङ्कराचार्य, वेदान्त का डिण्डिम घोष करने वाले परम विरक्त जब घोषणा करते हैं कि **भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दं भज मूढमते** तो भगवती भक्ति की महिमा ही का बखान करते हैं — परम कारुणिक जगद्गुरु घोर भवसागर से पार उतरने का सरलतम मार्ग का उपदेश ही करते हैं, वह मार्ग है भक्ति का सर्वसुलभ मार्ग। निश्चित रूप से परम भयानक भवार्णव से पार उतरने के मार्ग हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग भी—पर भक्तियोग जैसे मार्ग नहीं—ये दोनों मार्ग अत्यन्त कठिन हैं 'तरबार की धार पे धावनो है' सरल भक्ति मार्ग भी नहीं है पर यह नीरस नहीं क्योंकि इसका मूल है प्रेम तभी महर्षि शाण्डिल्य ने अपने *भक्तिसूत्र* में भक्ति का लक्षण किया है—**सा परानुरक्तिरीश्वरे** ईश्वर में परम अनुराग परम प्रेम भक्ति और यह अनुराग आनन्द से परिपूर्ण है।

यही देवर्षि नारद कहते हैं —**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा** अस्मिन् से अभिप्राय परमानन्द स्वरूप परमात्मा से है क्योंकि परमात्मा ही आत्मरति-आत्मक्रीड है—**यज्ज्ञात्वा स्तब्धो भवति मत्तो भवति आत्मारामो भवति।** आप्तकाम पूर्णकाम आत्माराम के बिना जीव को आत्माराम बनाने की सामर्थ्य भला और किसमें है?

न अध्यात्म ज्ञान की अभिलाषा, न कर्म अथवा वैराग्य का मोह, न अन्य किसी स्वार्थ की भावना, केवल कृष्ण के आनुकूल्य के लिए प्रेम भाव से आनन्द मूर्ति कृष्ण का चिन्तन करना ही उत्तम भक्ति है श्री रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत सिन्धु* में यही तो कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

क्योंकि भक्ति स्वयं अपने आपमें पूर्ण है उसे कर्म ज्ञान अथवा अन्य किसी प्रकार के साधन की अपेक्षा नहीं क्योंकि कर्म का उद्देश्य व्यक्तिगत सुख है ज्ञान का निर्विशेष ब्रह्म द्वैत भावना रहित ब्रह्म की प्राप्ति जहाँ उपास्य एवं उपासक का भेद नहीं जबकि भक्ति में उपासक भी है और उपास्य भी। भक्ति में न भुक्ति की स्पृहा है न मुक्ति की तभी वे (रूप गोस्वामी) कहते हैं जब तक भुक्ति और मुक्ति पिशाची की स्पृहा हृदय में है तब तक भक्ति सुख का अभ्युदय कहाँ सम्भव है।

तभी गोस्वामी तुलसीदास जी रामचरित मानस में भरत प्रसङ्ग में उनसे कहलाते हैं—

अर्थ न धर्म न कामरुचि, गति न चहऊं निर्वाण।
जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन।।

ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी का मानना है कि—

यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

जैसा श्रुति कहती है सुख उसमें है जो पूर्ण है, जो अल्प है वह तो दुःख है मृत्यु है और भक्त तीनों लोकों के वैभव का भी तिरस्कार कर देते हैं। वे तो भगवन्नखमणि चन्द्रिका के प्रकाश में नित्य निरतिशय आनन्द का अनुभव करते हैं। इस परमानन्द प्राप्ति का साधन है भक्ति।

श्रीकृष्णबोधाश्रम जी भक्ति का लक्षण करते हैं—**पूज्येष्वनुरागो भक्तिः** अर्थात् भगवद्विषयिणी, शास्त्रविषयिणी, गोब्राह्मणविषयिणी, माता-पिताविषयिणी, अनुरक्ति ही भक्ति है पुत्र विषयत्वेन यह वात्सल्य रति, इष्टविषयत्वेन प्रेयोरति, मित्रस्नेहविषयिणी सख्यरति तथा सेवक-सेव्य भाव सम्बन्धिनी दास्य रति कहलाती है, उनका मानना है कि यही 'तत्त्वमसि' के उपासक वेदान्तियों का स्व स्वरूपानुसन्धान भक्ति कहलाती है।

महर्षि व्यास *श्रीमद्भागवत* में कहते हैं कोई कामना रहित हो या सकाम हो सर्वकाम या मोक्षकाम हो—

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।

तीव्र भक्ति योग से परम ब्रह्म की उपासना करो।

पराभक्ति स्वरूपानुसन्धान है आत्मा ही परम प्रेमास्पद होने से एवं अपरा भक्ति देवादि विषयिणी है।

चित्त जब द्रवीभूत होकर गोविन्दाकार बन जाता है तो वह भक्ति है।

चित्ते द्रुते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता।

बात यह है द्रवित चित्त में जिन संस्कारों का समावेश होगा वे शान्त वृत्ति में भी चित्त में अपना स्थान बनाते हैं विकृत भावावेश का नाम वासना कहा है। यह काम से होगा। द्वेष वृत्ति से द्वेष होगा। परम प्रेमास्पद प्रभु की कथाओं से द्रवीभूत चित्तवृत्ति भक्ति होगी, सत्संगति से पुन: पुन: भगवद् दर्शन, लीला श्रवण, मनन से द्रुत चित्तवृत्ति में भक्ति आविर्भूत होगी।

भक्ति की प्राप्ति

भक्ति का उद्रेक पुण्य से होता है। पुण्य के प्रवृत्ति भगवत्कृपा से होती—यह सत्संगति से सम्भव है—

बिनु सत्संग विवेक न होई

और यह बिनु हरिकृपा सुलभ नहीं है। भगवान् कृपा कर जिसको अभ्युदय मार्ग पर ले जाना चाहते हैं उसे सत्यार्थ प्रेरित करते हैं—यह शास्त्र श्रवण—साधु सङ्गति से सम्भव होता है। उपनिषद् कहते हैं—

यमुन्निनीषति तं साधु कर्म कारयति,
यमधो निनीषति तमसाधु कर्म कारयति।

जा कुछ करें वह भगवदर्पण करें तो भगवच्चरणानुराग होता है तभी वह प्रकृष्ट होकर भक्ति बनता है। ऋषियों ने कहा है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।।

मोक्ष कारणों में भक्ति ही श्रेष्ठ है, यद्यपि भक्त मोक्ष नहीं चाहता वह तो जनम जनम भगवच्चारणानुराग ही चाहता है। वेदान्ती इस भक्ति को ही स्वरूपानुसन्धान का मार्ग मानते हैं और कहते हैं—**नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।**

भक्तिरस

वस्तुत: आनन्द स्वरूप परमात्मा ही रस कहा गया है। **रसो वै स:** (*तैत्तिरीयोपनिषद्*) स्वामी करपात्री जी कहते हैं—भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्द स्वरूप हैं, अत: कृष्ण विषयक रति रसरूपा ही है—भावरूपा नहीं। कान्तादि विषयक रति की रसता वैसी पुष्ट नहीं होती जैसी भगवद्विषयक रति की और यह रति क्षुद्र कान्तादि विषयक रति से उसी प्रकार श्रेष्ठ है जैसे खद्योत प्रभा से आदित्य प्रभा।

विद्वानों ने शृङ्गार हास्य करुणादि नव रसों से अतिरिक्त भक्ति रस भी माना है और उनका मानना है कि विषय और आश्रय दोनों में या दोनों में से एक यदि रसात्मक हो तो रति भी विशुद्ध रस स्वरूपा होती है।

स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि सम्प्रयोग एवं विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार रस के सार सर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्ति में विशिष्ट रसभाव को प्राप्त करते हैं।

भगवद् हृदयस्थ पूर्णानुराग रससारसागर से समुद्भूत निर्मल, निष्कलङ्क चन्द्रस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी नायिका है और राधारानी के हृदय में विराजमान श्रीकृष्ण विषयक प्रेम रस सार सागर से समुद्भूत चन्द्र रूप ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण नायक हैं।

यहाँ प्रेम सदानन्दैक स्वरूप रस स्वरूप है क्योंकि विषय एवं आश्रय राधा एवं कृष्ण—दोनों ही रस स्वरूप हैं जबकि अन्यत्र विषय आश्रय आदि विजातीय होते हैं, रस स्वरूप नहीं।

इसी प्रकार भगवान् की लीला, लीला का स्थान, लीला के परिकर और उद्दीपन आदि सामग्री भी रसस्वरूप ही होते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्द रससार सरोवर समुद्भूत सरोज, केसर, पराग एवं मकरन्द स्वरूप ब्रज ब्रज सीमन्तिनी वृन्द श्रीकृष्ण उनकी प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी सभी रसात्मक सिद्ध होते हैं।

श्री स्वामी करपात्री जी ने भगवान् कृष्ण आनन्दैक सिन्धु ब्रजनन्दनन्दन को भक्तों के प्रेमोद्गार में जैसे अभिव्यक्त किया है वह सहृदय शास्त्र मर्मज्ञों की आनन्दानुभूति के लिए अक्षरश: इस प्रकार है—

भक्तिरस के रसिकों का कहना है कि मुक्तमुनि जिस फल को ढूँढ़ने में व्यग्र रहते हैं उसी को देवकी रूप वृक्ष ने प्रकट किया है। यशोदा ने पकाया तथा गोपियों ने उसका यथेष्ट उपभोग किया है—

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत् पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्य:।।

यशोदा की मङ्गलमयी गोद में चिदानन्द सरोवर से नीलकमल के समान श्याम तेज प्रकट हुआ।

अन्य भक्त कहते हैं—

अनाघ्रातं भृङ्गैरुपहृतसौगन्ध्यमनिलै–
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहृतभूर्मीकणभरै:।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदाया: क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्।।

यह ऐसा फल था जिसका भृङ्गों ने आघ्राण नहीं किया। वायु ने जिसका सौरभ नहीं उड़ाया जो जल में उत्पन्न नहीं हुआ, लहरियों के कणों से जो नहीं टकराया और कभी किसी ने जिसे देखा नहीं।

एक अन्य भक्त का उद्गार है—

एक गोपी अपनी सहेली से कहती है अरी सखी। एक कौतुक की बात सुनो। मैंने नन्दबाबा के अंगने में वेदान्त सिद्धान्त को मूर्त रूप में धूलि धूसरित होकर नृत्य करते देखा है—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
धूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः।।

एक दूसरे भक्त कवि श्री प्रेमाप्लुत वाणी तुमने सुनी कि नहीं वह कहता है—श्यामसुन्दर कन्हैया तो लगता है साक्षात् भगवान् ब्रह्म ही है मानो गोपांगनाओं का प्रेम ही पुंजीभूत हो गया है और मानो श्रुतियों का गुप्तधन ही प्रकट हो गया है एकीभूत होकर अथवा यदुवंशियों का सौभाग्य ही मूर्त रूप में आ गया है—

पूञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानामेकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम्।
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधन्ताम्।।

यद्यपि भक्ति रस के आलम्बन विभाव सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर भगवान् ही हैं। भगवान् राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिन स्वरूपों की उपासना शास्त्रों में कही है उन सबकी भक्ति रस स्वरूप ही है तथापि सभी रस सरलता से साक्षात् श्रीकृष्ण में ही सङ्गत होते हैं, तभी भक्ति रसायनकार ने वैशिष्ट्येन 'मुकुन्द' पद ग्रहण किया है—**परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।**

राजसी-तामसी भक्ति अदृष्ट फल वाली होती है एवं मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट फल वाली। साधकों की विशेषता से शुद्ध सत्त्वोद्भावी होती है। श्री मधुसूदन सरस्वती का यह प्रेमोद्गार तो प्रसिद्ध ही है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं परमतत्त्वमहं न जाने।।

तथा—

अद्वैतवीथिपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन।।

दूर स्थित में स्वाभाविक स्वारसिक अकैतव प्रेम नहीं होता परन्तु भगवान् तो सर्वान्तर परमसन्निहित कहे गये हैं इसीलिए उन्हें प्रत्यगात्मा कहते हैं—

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति।।

भक्त के प्रकार

चार प्रकार के भक्त कहे गये हैं *श्रीमद्भगवद्गीता* में—

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभः।

आर्त्त भक्त गजेन्द्र को कहा है, जिज्ञासु उद्धव को, अर्थार्थी ध्रुव को एवं ज्ञानी कपिल को।

भक्ति के प्रकार/साधन

शास्त्रों में भक्ति नौ प्रकार की कही है अर्थात् भक्ति के नौ साधन हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्म निवेदन।

भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने नवधा भक्ति इस प्रकार कही है—

प्रथम भक्ति सन्तन कर सङ्ग, दूसरी रतिमय कथा प्रसङ्ग।।

यही श्रवण है बिना भगवद् गुणगान सुने भगवन् चरणों में रति कैसे सम्भव है। परम वीतराग शुकदेव ने आनन्द कन्द भगवान् के रूप माधुर्य को बर्हापीड़ नटवर वपुः को सुनकर परम आकृष्ट हुये और—

अहो बकीयं स्तनकालकूट-
जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितं तथापि
कं वा दयालुं शरणं ब्रजेमः।

सुनकर तो उस परम दयालु के चरण चञ्चरीक ही हो गये।

स्मरण, कीर्तन स्मरण (नाम महिमान्तर्गत है) पादसेवन अर्चन वन्दन (मूर्ति उपासना है) दास्य, सख्य और आत्म निवेदन श्रद्धा विशेष हैं। गुरुपद सेवा तुलसी प्रतिपादित तीसरी भक्ति है। चौथी भक्त कपट रहित होकर भगवद् गुणानुवाद कीर्तन है।

भगवान् कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

प्रेमास्पद है सर्वेश्वर, प्रेम स्वरूप और भक्ति उस प्रेमास्पद में परम प्रीति ही तो है तभी भगवान् उक्त वचन कहते हैं—यह भक्त की ही विशेषता है कि वह कुण्ठा रहित एवं योगी भी हो जाता है और प्रेम स्वरूप तो होता ही है।

मन्त्र जाप में दृढ विश्वास पञ्चम भक्ति है। श्रद्धापुरुष है परमात्मा उसमें परम श्रद्धा ही पञ्चम भक्ति है। छठी भक्ति है इन्द्रिय दमन शीलव्रती होना और बहु कर्मों से विरति।

सातवीं भक्ति है सर्वत्र भगवद्दर्शन, सबमें भगवद्दर्शन तभी तुलसी गाते हैं—

सीय राममय सब जगजानि
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानि।

विश्वभर में विश्वात्मा का दर्शन है यह और—

मोते सन्त अधिक कर लेखा
मैं भक्तन को दास भगत मेरो मुकुट मणि।

सच्चा भक्त भगवद्दासानुदास होता है।

यही उपनिषद् का *ईशावास्यमिदं सर्वम्* है, यही वेदान्तियों का *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* और यही गीता का—

वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।
जड़-चेतन जग जीवगत सकल राममय जानि।

वंदउ सबके पदकमल सदा जोरि जुग पानि।

आठवीं भक्ति है यथा लाभ सन्तोष और परदोष अदर्शन।

यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट होता है भक्त और

नवम सरल सब सब छल हीना
मन भरोस हिय हरष न दीना।।

अपने इष्टदेव का पूर्ण भरोसा। सबसे निष्कपट व्यवहार सदा प्रसन्न कभी दीन न होना। न शोक न मोह न दीनता। यह भक्ति जिनके हृदय में होती है वे आत्माराम पूर्णकाम। हरि अनन्त भगवान् अनन्त और भगवद् भक्ति भी अनन्त।

भक्ति के साधन

सत्संग, श्रद्धा, अद्रोह, उदारता, संयम, मोहादि षड्दोषराहित्य।

भक्ति की व्युत्पत्ति और महत्ता

(1) भजनं भक्ति:, (2) भज्यते अनया इति भक्ति:, भजन्ति अनया इति भक्ति, (3) भगवति मन: स्थिरीकरणं भक्ति:।

भज् सेवायां धातु से क्ति प्रत्यय से निष्पन्न भक्ति का मूलार्थ सेवा है।

भगवान् कहते हैं जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं उसी प्रकार मैं भी भक्त को भजता हूँ—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
ताँस्तथैव भजाम्यहम्। — *श्रीमद्भगवद्गीता*

भगवान् की प्रतिज्ञा है **न मे भक्तः प्रणश्यति।**

श्री मधुसूदन सरस्वती कृत भक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिः।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।। — *भक्ति रसायन* 1-3

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को कर्म और ज्ञान योग से अधिक श्रेष्ठ बताया है।

देवी भागवत में भगवती महादेवी कहती है—मेरी सेवा से अधिक कुछ भी नहीं है।

नारद पाञ्चरात्र में मुक्ति से भी अधिक भक्ति को महत्त्व दिया गया है। तभी सच्चा भक्ति मुक्ति की नहीं भक्ति की कामना करता है—

जन्म जन्म रति रामपद
यह वरदान न आन।

गुण भेद से भक्ति तामसी, राजसी, सात्त्विकी कही गई है। क्रमशः सात्त्विकी भक्ति से ही पराभक्ति प्राप्त होती है। गीता में भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

और भगवान् अपने भक्त का योगक्षेम स्वयं करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

भक्ति प्राप्ति एक सुगत उपाय प्रपत्ति है; प्रपत्ति अर्थात् भगवान् से मिलने के लिए प्रबल व्यग्रता। प्रपन्न सर्वात्मना भगवदाश्रित समझता है अपने को अपनी रक्षा का पूर्ण, अपनी भक्ति की रक्षा का पूर्ण भार भगवान् पर समझता है। प्रपत्ति के आचार्यों ने दो भेद बताये हैं—(1) शरणागति, (2) आत्मसमर्पण।

भक्त के अधीन भक्ति करना है, प्रपत्ति भगवान् के अधीन।

शरणागत प्रपन्न का एक ही कर्त्तव्य है अपने स्वामी के अनुकूल कार्य करना और स्वामी के प्रतिकूल कार्य न करना। अर्थात् शास्त्रानुसार वर्त्तन एवं शास्त्रनिषिद्ध कार्यों का वर्जन तभी भगवान् प्रसन्न होते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम।

वाल्मीकि रामायण में राम का कथन। गीता में श्रीकृष्ण सर्वोपदेश करने के बाद अर्जुन से कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

भक्ति एवं ज्ञान

ज्ञान हि भक्ति हि नहि कछु भेदा
उभय हरहि भव सम्भव खेदा।

तुलसीदास जी कहते हैं ज्ञान में एवं भक्ति में कुछ भेद नहीं है दोनों ही भव सम्भव खेद को हरने वाले हैं। भेद यही है कि भक्ति सुलभ है ज्ञान मार्ग कठिन, वह इसलिए कि भगवान् की माया प्रबल है उससे बचना कठिन है पर माया सुन्दर स्त्री की तरह है ज्ञानी अथवा ज्ञान पुरुष है एवं भक्ति स्त्री। स्त्री स्त्री के रूप से मोहित नहीं होती। **मोहि न नारी नारी के रूपा। पन्नगारिन वह रीति अनूपा।** इसलिए ज्ञानी का पथ से विचलित होना सामान्य बात है। भक्त का नहीं क्योंकि भक्ति भगवान् की प्रिया है और माया दासी। माया भक्ति को छिपाने में सहज समश्र नहीं होती। पर इससे यह समझना भूल होगी कि भक्ति का मार्ग सरल है। सरल नहीं है तभी मीरां गाती है—

अरी मैं तो प्रेम दीवानी।
मेरो दर्द न जाने कोय।
शूली ऊपर सेज सेज पिया की
किस विध मिलनो होय।

और कबीर गाता है—

कबीरा खड़ा बाजार में लिये लखुटिया हाथ।
शीश उतारे भुंई धरे सो चले हमारे साथ।।

बड़ी कठिन परीक्षा लेता है सांवरिया अपने भक्त की। सब कुछ त्याग कर केवल और केवल उसका हो जाने पर ही कोई मीरा, कोई सूरदास, कोई कबीरदास नरसी को अपना बनाता है वह सर्वेश्वर और बाँके बिहारी।

तो भी जो सत्य को जानते हैं वे केवल और केवल भक्ति का वर माँगते हैं। अपने आराध्य से चाहे वह मुनि अगस्त्य हो या स्वयं योगेश्वर महादेव शिवशङ्कर तभी रामराज्याभिषेक के अवसर पर कैलास से आकर यह भोला भण्डारी अपने रामेश्वर से कहता है, नहीं माँगता है—

बार-बार वर मांगऊं
हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी
भगति सदा सतसङ्ग।।

शिवमस्तु

अध्यक्ष, अ.भा. आध्यात्मिकउत्थान मण्डल,
परमहंसी गंगा आश्रम,
झोक्तेश्वर (नरसिंहपुर),
मध्यप्रदेश।
स्थायी पता—
निदेशक, साहित्य परिषद्,
लक्ष्मणगढ़
जिला-सीकर (राजस्थान)

वल्लभ सम्प्रदाय भक्ति–धारा: एक अनुशीलन

डॉ. आदित्य आंगिरस

सूरदास की भक्ति भावना अथवा प्रपत्ति सिद्धान्त के बारे में कुछ कहने से पूर्व, प्राचीन भारत में प्रचलित भक्ति अवधारणा एवं परम्परा को स्पष्ट करना, इन्हीं संदर्भों मे यहाँ एक आवश्यकता बन जाती है। हिन्दी साहित्य में प्रचलित अवधारणा के अनुसार भक्ति आन्दोलन का आरम्भ दक्षिण भारत में आळवारों एवं नायनारों के द्वारा हुआ जिसको रामानन्द उत्तर भारत में ले कर आये। आचार्य रामानन्द के माध्यम से यह भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत सहित सम्पूर्ण दक्षिण एशिया, विशेषकर भारतीय उपमहाद्वीप में फैल गया। इन्हीं संदर्भों में यह स्पष्ट करना एक आवश्यकता बन जाती है कि हिन्दी भाषा एवं साहित्य के उद्भव एवं विकास का समय भाषाविद् लगभग 650 सम्वत् से लेकर 800 विक्रमी सम्वत् से मानते हैं। आचार्य द्विवेदी लगभग 1050 विक्रमी सम्वत् से हिन्दी साहित्य एवं भाषा का प्रारम्भ काल मानते हैं वहीं दूसरी ओर सम्वत् 900 के लगभग भी कई हिन्दी साहित्येतिहास के विद्वान् भी मानते हैं। वास्तव में यह काल भारतीय इतिहास का वह काल है जब विदेशी आक्रमणकारियों ने भारतीय धरा को अपने अधिकार में लेने का प्रयास किया। विशेषकर भारतीय इतिहास का 600 से लेकर 1000 सम्वत् तक का काल ऐसा काल रहा है जब विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतीय भूमि की ओर आकृष्ट हो कर भारतीय उपमहाद्वीप को लूटने का भरसक प्रयास किया। इसका संभव कारण यह रहा होगा कि विदेशियों के लिये जीवन की आवश्यक समस्त सुख एवं सुविधायें जैसी भारतीय उपमहाद्वीप में विद्यमान रही वैसी सुविधाएँ संसार के किसी भी अन्य भाग में विद्यमान नहीं थीं। दिल्ली के शासक पृथ्वीराज पर अनेक बार का आक्रमण, गुजरात के सोमनाथ मन्दिर एवं कोणार्क का सूर्य मन्दिर का ध्वंस एवं भारत को बार बार लूटने के प्रयास की ऐतिहासिक घटनाएँ इन्हीं सन्दर्भों में द्रष्टव्य हैं। इन सभी का संदर्भ यहाँ देने का अर्थ है कि ईश्वर के प्रति आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम का आधार वैदिक एवं पौराणिक रहा है जो ईसा से पूर्व काल में प्रचलित रहा है। अत: भारतीय संस्कृति के इतिहास में भक्ति साधना को पराजित जाति का मनोविज्ञान समझना अथवा इसी प्रकार की अवधारणा को मानना इन्हीं सन्दर्भों में किंचित् अनुचित लगता है विशेषत: तब, जब कि हिन्दी के आधार में लौकिक संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाएँ विद्यमान हो विशेषकर उस समय जब भक्ति जीवन्त जाति के बोध के रूप में द्रष्टव्य हो। यह बात तो निश्चित है कि विदेशियों ने अपनी भाषा को प्रचलित करने का भी प्रयास किया और इन्हीं सन्दर्भों में उनको कतिपय सफ़लता भी प्राप्त हुई। भारतीय उपमहाद्वीप में फ़ारसी एवं अरबी भाषाओं का प्रचलन इन्हीं सन्दर्भों मे द्रष्टव्य है। अत: इन्हीं सन्दर्भों में संस्कृत साहित्य का इतिहास भी द्रष्टव्य है।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि विश्व के सांस्कृतिक पटल पर भारत सबसे प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता वाला एक ऐसा उपमहाद्वीप है जहाँ पूर्वकाल में प्रचलित अवधारणाओं के प्रति भारतीय समाज में अद्यतन विद्यमान है। मध्यकालीन एवं आधुनिक संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति पर प्रभाव अवश्य डाला है और उनमें किसी सीमा तक परिवर्तन भी हुआ है परन्तु संस्कृति का स्वरूप अपने मूल रूप में ही स्वीकार्य किया जाता है। भारतीय समाज में यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से प्रचलित है। संस्कृत भाषा का वर्तमान समय में भी प्रचलन इसी ओर संकेत करता है।

यह तो स्वीकार्य तथ्य है संस्कृत भाषा एवं इसमें रचित साहित्य को वैश्विक संस्कृतियों के संदर्भ में प्राचीनतम साहित्य माना गया है एवं इस भाषा की उत्पति वैदिक काल में हुई। अत: कहा जा सकता है कि भारतीय चेतना के इतिहास का प्रारम्भ ऋग्वेद से आरम्भ होना माना जा सकता है। वस्तुत: यह वह कालखण्ड था जहाँ आर्ष परम्परा सूर्य, अग्नि, इन्द्र वरुण आदि देवताओं के सामने उनके महनीय रूप को पुरस्सर करते हुए उन के प्रति श्रद्धाभाव से उपस्थापन करती हुई दिखती हैं एवं जीवन को सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरणा देने के लिये आह्वान करती हैं। सूर्य उपस्थापन के मन्त्र एवं विधि इसी भावना की ओर इंगित करती है। औपनिषद साहित्य मे भगवान् वैश्वानर के संबंध में जो भी वर्णन आता है वह मनुष्य का दैवीय सत्ता के प्रति श्रद्धा भाव ही द्योतित करता है विशेषकर वह जो मनुष्य के सत्त्व भाव से प्रेरित है। वस्तुत: यह एक प्रकार से अपने भावों की ईश्वर के श्रद्धा भाव से संपृक्त हो कर उस परम सत्ता के प्रति संपूर्ण रूपेण आत्माभिव्यक्ति का ही एक प्रकार है जिसे हम भक्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं। यहाँ ऋषि दैवीय सत्ता के समक्ष श्रद्धापूर्वक नतमस्तक है। इसी प्रकार वरुण, अर्यमा आदि के प्रति भी वैदिक ऋषियों ने अपना श्रद्धा-भाव जिस प्रकार से अभिव्यक्त किया है वह निश्चित रूप से भक्ति का ही प्रकार है। वैदिक साहित्य में यज्ञ की संकल्पना के माध्यम से भी यही बात कही गयी है। विशेषकर उस परम सत्ता के प्रति यही भाव रख कर जीवन को सन्मार्ग पर ले चलने की प्रेरणा देने की बात भी आती है जो भक्ति का एक प्रकार है। वस्तुत: भारतीय चेतना में उपनिषद् काल में हमें महत्त्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलता है जहाँ वैदिक काल में प्रचलित आरण्यक संस्कृति ब्रह्माण्डीय चेतना के प्रति श्रद्धावान् होने के साथ साथ अपने अन्तरतम को देखने एवं जानने के लिये उद्यत रहती है—**"आत्मानम् विद्धि॥"**। **"यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"** की वास्तविक संकल्पना का आधार यहीं से प्रारम्भ होता है जहाँ मनुष्य वैदिक देवताओं के प्रति श्रद्धावान् होने के साथ साथ अपने आत्म तत्त्व के प्रति भी श्रद्धावान् होना प्रारम्भ करता है। समस्त औपनिषद साहित्य का वास्तविक निचोड़ यही माना जाता है जहाँ मनुष्य अपने अन्तरतम में अनुप्रविष्ट उस दैवीय सत्ता के दर्शन करने का प्रयास किया जो उस परम सत्ता का अंशमात्र है। अत: यहाँ यह कहना समीचीन ही है कि मनुष्य जहाँ वैदिक काल में जहाँ भक्ति तत्त्व के विशद रूप में हमें दर्शन होते हैं वहीं दूसरी ओर हमें एक ऐसी पूजा पद्धति का भी विकास देखने को मिलता है जो वैदिक ऋषि के सत्त्व का परिचायक है। यज्ञ के माध्यम से भी आत्मयाजी होना श्रेष्ठतम भाव माना गया है। क्योंकि आत्मतत्त्व भगवान् के ही एक रूप की अभिव्यक्ति है। अत: यह कहा जा सकता है कि

वैदिक काल से ही भक्ति का प्रचलन हो गया था क्योंकि वैदिक साहित्य मनुष्य की आस्था, श्रद्धा प्रेम आदि भावों का परिचायक है जो भक्ति की ही आधार भूमि है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की रचना *अनामदास का पोथा* : *अथ रैक्वोपाख्यान* इसी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

संस्कृत भाषा के इतिहास को देखें तो संस्कृत भाषा के हमें दो रूप देखने को मिलते हैं वैदिक एवं लौकिक संस्कृत। लौकिक संस्कृत के माध्यम से जहाँ शब्दों को स्थिरता मिली वहीं शब्दों का प्रयोग भी निश्चितार्थ के लिये प्रयुक्त होना आरभ हुआ। यह भारतीय उपमहाद्वीप का ऐसा काल रहा होगा जब पुराण-रचना की प्रक्रिया भी आरम्भ हुई होगी। इस काल-खण्ड में संस्कृत का जहाँ हमें मानक रूप देखने को मिलता है वहीं दूसरी ओर लोक भाषा के रूप में प्राकृत भाषा के भी दिग्दर्शन होने आरम्भ होते हैं। इसी काल में कतिपय अन्य साधना-पद्धतियों के प्रचलन का भी हमें संकेत मिलना आरम्भ होता है एवं पातञ्जल योग सूत्र में इन्हीं साधना-पद्धतियों का स्वरूप हमारे सामने आता है। वास्तव में भारतीय इतिहास में यह एक ऐसा काल था जब मनुष्य ईश्वर के प्रति श्रद्धावान् होकर उस परमतत्त्व को मानवीय रूप में देखने को लालायित रहा होगा जिसके मूर्तिमान रूप के प्रति वह अपना श्रद्धा भाव प्रकट कर सके। ऐसे में जहाँ मानव की श्रद्धा का केन्द्र उसमें विद्यमान् आत्म तत्त्व रहा वहीं दूसरी ओर वैदिक ज्ञान एवं भक्ति परम्परा का रूप भी अक्षुण्ण रूप से हमारे सामने आता है। अत: पुराण साहित्य के संदर्भ में भी यही तथ्य द्रष्टव्य है कि तत्कालीन भारतीय समाज ने उस ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा भाव को अभिव्यक्त करने के लिये उस ईश्वर की अनन्त रूपों में कल्पना की एवं इस कल्पना का केन्द्र एक प्रधान रूप में एक दैवीय शक्ति मात्र थी जो जीव मात्र पर अपनी अहैतुकी कृपा करने में समर्थ एवं सर्वदा उद्यत थी। वस्तुत: इसी विचार के आधार पर अट्ठारह पुराणों का सूत्रपात हुआ होगा जिनमें उस परम तत्त्व को एक निश्चित रूप एवं गुण से अन्वित करने का प्रयास हुआ जिसकी भक्ति मनुष्य मात्र के लिये भुक्ति एवं मुक्ति का पथ प्रशस्त करती है। *श्रीमद्भागवत पुराण, देवीभागवत पुराण* एवं *शिव पुराण* आदि इसी ओर इंगित करते हुए हमें यही संदेश देते हैं कि उस ईश्वर का एक निश्चित आकार में विद्यमान है एवं वह करुणामय, सृष्टि सर्जक, पालक एवं नियन्ता है एवं अपने भक्त पर अहैतुकी कृपा करने के लिये सदा ही तत्पर है। उस ईश्वर की अहैतुकी कृपा पाने का एक मात्र साधन प्रेमाभक्ति का ही माध्यम था। अत: समस्त पुराणों के माध्यम से भारतीय जनमानस को एक तत्त्व के प्रति श्रद्धावान् होकर प्रेमाभक्ति करने का संदेश दिया जाता रहा है।

यदि भारतीय मानस के इतिहास को हम ध्यान से देखें तो हमारे सामने एक बात स्पष्ट रूप से आती है कि भारतीय जनमानस पर वाल्मीकि द्वारा रचित *रामायण* एवं महर्षि व्यास द्वारा रचित *महाभारत* एवं *श्रीमद्भागवत* जैसे पुराण साहित्य ने अधिकांश में प्रभाव डाला है जो मनुष्य मात्र को ईश्वर के साक्षात् श्रीविग्रह के भाव रूप का हमें दर्शन करवाती है वहीं दूसरी ओर श्रद्धावान् हो कर उस ईश्वर के अनुग्रह प्राप्त करने का भी मार्ग प्रशस्त करता है जो केवल प्रेमाभक्ति द्वारा ही संभव है। प्रेमाभक्ति मनुष्य को संपूर्ण रूपेण आत्मसमर्पण की प्रेरणा भी देती है। इन्हीं ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय समाज में राम हमारे सामने मर्यादा

पुरुषोत्तम के रूप में सामने आते हुए हमारी श्रद्धा एवं भक्ति का केन्द्र बनते हैं वहीं *श्रीमद्भागवत पुराण* एवं *श्रीमद्भगवद्गीता* के विश्व-रूप दर्शन ने भी भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव डाला। ये ग्रन्थ स्वयं में कृष्ण के पूर्ण पुरुष होने का प्रमाण है। अत: तुलसी एवं उनके पूर्ववर्ती मनीषियों ने राम के मर्यादित रूप को जहाँ अपने काव्य का आधार बनाया वहीं दूसरी ओर सूरदास के पूर्ववर्ती आचार्यों ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म के रूप में मानते हुए उन्हें अपने काव्य का आधार बनाया। जयदेव का *गीतगोविन्द* काव्य इन्हीं सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। अत: यह कहने का सीधा तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य में भक्ति का प्रतिफ़लन वैदिक काल से ही आरम्भ हो जाता है। इन्हीं सन्दर्भों में यह देखना भी आवश्यक है कि शंकराचार्य जहाँ अपनी टीकाओं के माध्यम से ज्ञान की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर आचार्य शंकर का एक दूसरा भी रूप भी प्रत्यक्ष होता है जहाँ वे ज्ञान से हट कर श्रद्धा एवं आस्था की बात करते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमें उनके द्वारा रचित *गुर्वष्टकम्* आदि स्तोत्र साहित्य में दिखता है जहाँ वे सद्गुरु के श्रीचरणों में अपने आपको संपूर्ण रूपेण समर्पित करते हैं। अत: शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, तुकाराम, आदि सन्त पुरुष जहाँ सामाजिकता में रहते हुए सामञ्जस्य की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर वे अपने साहित्य के माध्यम से उस ईश्वर के प्रति श्रद्धावान् हो कर उसके सगुण रूप की भी बात करते हैं जो सामान्य मानव के लिये एक आदर्श स्थिति प्रस्तुत करती है।। वस्तुत: ये सभी सन्त किसी न किसी रूप में उस भक्ति आन्दोलन से भी संपृक्त रहें है। जिन्होंने समाज पर व्यापक रूप से प्रभाव डाला है। एक ओर जहाँ चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण भक्ति के माध्यम से तत्कालीन समाज पर व्यापक प्रभाव डाला वहीं दूसरी ओर वल्लभाचार्य ने भी भारतीय मानस को कृष्ण भक्ति के मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया। इन दोनों पर *श्रीमद्भागवतपुराण* का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। इसी के परिणाम स्वरूप श्रीकृष्ण के विषय में जो श्रीमद्भागवत में अवधारणा चली आ रही थी उसी के परिणाम स्वरूप समस्त भारतीय भाषाओं में कृष्ण भक्ति परम्परा का प्रारम्भ हुआ। यह हम इस लिये कह सकते हैं कि संस्कृत एवं सामान्य जन-भाषाओं ने श्रीकृष्ण को पूर्ण-पुरुष के रूप में प्रदर्शित करना शुरु किया जिसका वर्णन *श्रीमद्भागवत।* एवं *श्रीमद्भगवद्गीता* के विश्वरूप दर्शन में देखने को हमें मिलता है। इस का प्रभाव व्यापक रूप में उतरोत्तर भारतीय भाषाओं एवं जनमानस पर पडा। इन्हीं सन्दर्भों में एक कृष्ण भक्त कवि के ये वचन हमारे सामने आते हैं।

अनन्तविश्वाश्रय वीर्यशालिन विश्वस्थसौन्दर्यनिदानभूत।
माधुर्यलावण्यरसैकसिन्धो हे सच्चिदानन्द नमो नमस्ते॥[1]

सर्वज्ञाननिधिगुणैकनिलयो भावाश्रय: सर्वग:
त्वं सर्वत्र सदा समअसतया सर्वान्तराकर्षक:।
ध्येय: सिद्धजनैर्मदीयहृदये धृत्वेष्टदेवद्युतिं
सार्थं मे कुरु जीवनं करुणया दीनैकबन्धो विभो॥[2]

यह भक्त हृदय का एक ऐसा उद्‌गार है जहाँ भक्त श्रीकृष्ण को सब प्रकार के आश्रय का आधार, सभी प्रकार के ज्ञान का आधार एवं समस्त विश्व का आश्रय स्थान मान कर उन्हें दीनबन्धु मानता हुआ उनसे प्रार्थना करता है कि अपनी करुणा के माध्यम से जीवन को सार्थक बनाए। भक्त श्री कृष्ण को सत्, चित् एवं आनन्द रूप मानते हुए विश्व के समस्त सौन्दर्य का आगार मानता हुआ समस्त ज्ञान राशि का उद्‌गम स्रोत मानता है। श्रीकृष्ण भक्त अपने मन के भाव को अभिव्यक्त करता हुआ उन्हें ही अव्यय पुरुष मानता है एवं केवल वे ही आदिदेव है जो इस संपूर्ण संसार के सारमात्र हैं—

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥[3]

तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देव।
श्रीकृष्णसंज्ञं जगदेकसारम्॥[4]

अतः निश्चित ही वही एक देव सभी प्राणियों के अन्तःकरण में व्याप्त है एवं वे ही समस्त प्राणियों का आधार, साक्षी एवं शुद्ध चैतन्य तत्त्व है जो सभी प्राणियों का नियन्त्रण करते हैं एवं वे ही सर्वान्तर्यामी प्रभु है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥[5]

यः सर्वतत्त्वं यमयति, स आत्मा अन्तर्यामी॥[6]

ऐसे ईश्वर को प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य के जीवन में स्थैर्य आता है एवं वह कहीं अधिक उत्साही नहीं होता और न ही कामना अथवा शोक उसको व्याप्त करती है।

यतः प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति न शोचति न रमते नोत्साहीभवति।

ऐसे में स्थिर मति हुआ भक्त जहाँ भी देखता है वहीं वहीं श्रीकृष्ण की रूप माधुरी ही दिखाई देती है एवं मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य भी यही है

यतो यतः प्रसरति मे विलोचनं। ततस्ततः स्फुरतु तवैव वैभवम्।

अर्थात् कृष्ण भक्ति परम्परा में जहाँ भी भाव सौन्दर्य के दर्शन होते हैं वह केवल श्री कृष्ण का ही वैभव मात्र है। ऐसा अनुभव होने के पश्चात् भक्त श्रीकृष्ण को जिन नामों से पुकारते हैं वह यहाँ द्रष्टव्य है—

हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो।
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!॥
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा, हा, कदानुभवितासि पदं दृशो मे॥[7]

अर्थात् श्रीकृष्ण के पाद पंकज में प्रीति ही केवल मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य है जो भक्त को भुक्ति एवं मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करती है। इन्हीं सन्दर्भों मे *श्रीमद्भागवत पुराण* में श्रीकृष्ण की भक्ति के विषय में एक आस्थापूर्वक वचन आता है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥[8]

अर्थात् मनुष्य मात्र पर अनुग्रह हेतु ईश्वर मनुष्य रूप धारण करते हैं ताकि मनुष्य मात्र ईश्वर की क्रीडा को सुनकर इनके प्रति श्रद्धावान् हो सके। इस में किसी भी प्रकार की मनुष्य को शंका नहीं करनी चाहिये। गोपियाँ इस रहस्य को जान गई थीं अत: वे सभी गोलोक वासी बन श्रीकृष्ण की लीला में भाग लेती हैं। अत: मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम। लक्ष्य यही है कि श्रद्धा, प्रेम एवं आत्मसमर्पण के माध्यम से श्रीकृष्ण की उस लीला का अनुभव करे जिसे गोपियों ने प्रत्यक्ष देखा। ये समस्त भावात्मक उद्‌गार जहाँ मानवीय रूप में उस ईश्वर के होने की धारणा को स्पष्ट करते हैं वहीं दूसरी ओर ये मनुष्य को श्रीकृष्ण के रूप में अवस्थित ईश्वर के प्रति श्रद्धावान् हृदय में प्रेमाभक्ति की अवधारणा को भी स्पष्ट करते हैं। अत: भक्ति के उद्भव एवं विकास के विषय में यह कहना कि दक्षिण के नायनार एवं आळवार सन्तों ने भक्ति को हिन्दी में प्रतिपादित किया था, इन्हीं सन्दर्भों में किञ्चित् रूप से अमान्य हो सकता है। इसका संभव कारण यह हो सकता है कि आळवार एवं नायनार भक्ति सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास का कालक्रम छठी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक माना जाता है जबकि *नारदभक्तिसूत्र* एवं पाञ्चरात्र आदि भक्ति मार्ग के प्रौढ़ ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत साहित्य में पहले हो चुका था। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि संस्कृत-साहित्य के माध्यम से भारतीय मानस को आन्दोलित करने वाले दो विशेष व्यक्ति रहे हैं जिनमें रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि हैं एवं दूसरे महर्षि व्यास हैं जिन्होंने महाभारत के साथ साथ अट्ठारह पुराणों का भी सर्जन किया। वास्तव में इन दोनों महाकाव्यों ने भारतीय जन-मानस पर व्यापक प्रभाव डाला जिसके परिणाम स्वरूप कई सन्तों एवं महापुरुषों ने इन दोनों ग्रन्थों का गंभीर अवगाहन कर अपने काव्य का आधार बनाया। भास, भवभूति, कालिदास आदि का काव्य इसी तथ्य को द्योतित करता है। यहाँ पुष्टि मार्ग के प्रणेता वल्लभाचार्य के विषय मे बताना यहाँ एक आवश्यकता बन जाती है। भक्ति-कालीन सगुण भक्ति धारा की कृष्णाश्रयी भक्ति शाखा के आधार स्तम्भ एवं पुष्टिमार्ग के प्रणेता एवं संस्थापक श्रीवल्लभाचार्यजी (1479-1531) वैश्वानरावतार माने गये है जो वेद-शास्त्र में पारंगत थे एवं वे अनन्त दिव्य गुणों से युक्त पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण जगत् श्रीकृष्ण लीला का विस्तार मात्र है एवं गोलोकवासी भगवान् श्री कृष्ण हैं भक्तों पर अनुग्रह हेतु निमित्त वैकुण्ठ में नित्य क्रीड़ाएँ करते हैं। इस गोलोक में यमुना, वृन्दावन, निकुंज व गोपियाँ सभी नित्य रूप में विद्यमान हैं। इस गोलोक में रहने वाले सभी जायते, अस्ति वर्धते, विपरणमते, अपक्षीयते एवं मृत्यु से भिन्न स्थिति में है। परम प्रेमरूपा भगवत्सेवा के माध्यम से श्रीकृष्ण की इस नित्यलीला में प्रवेश पाना ही जीव की सर्वोत्तम गति है। यह केवल प्रेमाभक्ति के माध्यम से ही संभव है एवं इस में जीव

की प्रवृत्ति केवल भगवदनुग्रह द्वारा ही संभव है। श्रीमन्महाप्रभुवल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग (पुष्टि अर्थात पोषणम्, अनुग्रह) का यही आधारभूत सिद्धान्त है। अत: पुष्टिमार्गीय जीव का जीवनाधार एवं उद्देश्य केवल भगवत्सेवा ही है क्योंकि *भागवतकार* के अनुसार "**भगवद्रूपसेवार्थतत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्।**" प्रेमपूर्वक भगवत्सेवा ही वास्तविक भक्ति का यथार्थ स्वरूप है क्योंकि भागवतीय आधार (**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**) पर भगवान् कृष्ण ही सदा सर्वदा सेव्यमान, स्मरणीय, चिन्तनीय, एवं कीर्तनीय हैं। अत: मैं उन्ही की शरण में जाता हूँ–

सर्वदा सर्व–भावेन भजनीयो ब्रजाधिपः।
... तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।।

संभवत: वल्लभाचार्य ने इस रहस्य को समझा एवं अनुभव किया कि श्रीकृष्ण का अनुग्रह केवल अनुभवजन्य प्रेमाभक्ति के माध्यम से ही संभव है। यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने आजीवन श्रीकृष्ण का चिन्तन एवं मनन करते हुए श्रीकृष्ण कृपा का अनुभव किया। उनके द्वारा प्रणीत कई अन्य ग्रन्थ, जैसे – *'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध', 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम', 'पत्रावलम्बन', 'पञ्चश्लोकी', पूर्वमीमांसाभाष्य, भागवत* के दशम स्कन्ध पर *सुबोधिनी टीका* आदि भी प्रसिद्ध हैं जो श्रीकृष्ण भक्ति पर आधारित है। *'मधुराष्टक स्तोत्र'* में आपने भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप, गुण, चरित्र, लीला आदि के माधुर्य को अत्यंत मधुर शब्दों और भावों से निरूपित किया है।

यहाँ श्रीमद्भागवत में आए एक प्रसंग का वर्णन उचित रहेगा जहाँ गोपियों एवं श्रीकृष्ण के मध्य वार्ता के माध्यम से वे गोपियों को प्रेम का मर्म बताते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति प्रेम करने पर ही प्रेम करता वह प्रेम का स्वरूप स्वार्थपरक है। न तो उसमें सौहार्द्र है और न ही धर्म। वह तो केवल लेन–देन मात्र है। अत: जो लोग प्रेम न करने वाले से भी प्रेम करते है तो उनके व्यवहार में निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म होता है।[9] वहीं दूसरी ओर श्रीमद्भागवत में महाराज शुक एवं परीक्षित के मध्य संवाद के माध्यम से जो निष्कर्ष रूप में जो बात हमारे सामने आता है वह मनुष्य को मुक्त करने में सक्षम है।[10] वल्लभाचार्य संभवत: इन तथ्यों को भलीभाँति जानते थे एवं वे प्रेम एवं भावपूर्ण माध्यम से भक्ति का परिणाम भी जानते थे। अत: वे अपने अन्त:करण के माध्यम से श्रीकृष्ण की भक्ति में ऐसे तत्पर होते हैं जो अपने आप में उदाहरण योग्य है।। वल्लभाचार्य ने माया के दो भेद बताये हैं– अविद्या माया और विद्या माया। उनके अनुसार अविद्या माया जीव में भ्रान्ति उत्पन्न करती है, जिससे कि वह अपने चित् रूप को भूल जाता है। विद्या माया अज्ञान नाशिनी होती है। मोक्ष प्राप्ति के संदर्भ में हमें प्राय: तीन मार्गों का उल्लेख मिलता है—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। देवयान अथवा कर्ममार्ग का अनुसरण करने वाले देवलोक को है। जो व्यक्ति ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता है यानी यह ज्ञान प्राप्त कर अक्षर ब्रह्म में विलीन होता है। वह परब्रह्म में लीन नहीं होता, क्योंकि ज्ञानमार्गी की सीमा अक्षर ब्रह्म तक ही है। ज्ञानमार्गी अक्षर ब्रह्म को ही अंतिम सत्ता समझता है। हाँ, यदि ज्ञानमार्ग में प्रेमाभक्ति का सामञ्जस्य हो जाये तो व्यक्ति परब्रह्म में लीन हो सकता है। अर्थात प्रेमाभक्ति एवं ज्ञानयोग के सामञ्जस्य के माध्यम से कर्म करना ही पुष्टिमार्ग का प्रमुख सिद्धान्त है।

श्री वल्लभाचार्यजी के चौरासी शिष्यों के अलावा अनगिनत भक्त, सेवक और अनुयायी थे। उनके पुत्र श्रीविठ्ठलनाथजी (गुसाईंजी) ने बाद में उनके चार प्रमुख शिष्यों - भक्त सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास और कुम्भनदास, तथा अपने स्वयं के चार शिष्यों—नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी तथा चतुर्भुजदास, जो सभी श्रेष्ठ कवि तथा कीर्तनकार भी थे, का एक समूह स्थापित किया जिसे हिन्दी साहित्य में "अष्टछाप" के कवि नाम से प्रसिद्ध है। सूरदासजी की सच्ची भक्ति एवं पद-रचना की निपुणता देख अति विनयी सूरदासजी को भागवत कथा श्रवण कराकर भगवल्लीलागान की ओर उन्मुख किया तथा उन्हें श्रीनाथजीके मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। उन्हें तत्त्व ज्ञान एवं लीला भेद भी बतलाया—**श्रीवल्लभगुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो** *[सूरसारावली]*। सूर की गुरु के प्रति निष्ठा द्रष्टव्य है- **भरोसो दृढ इन चरनन केरो। श्रीवल्लभ-नख-चंद्रछटा बिनु सब जग मांझ अंधेरो॥** अत: वास्तविक ज्ञान की सीमा स्व अनुभव पर आधारित है जिसे वे वल्लभाचार्य द्वारा उद्बोधन के बाद ही अनुभव करने में सक्षम हो सके। इसी कारण सूरदास के कार्य विषय में भेद आया है क्योंकि उन्होंने ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त ईश्वर का उसी रूप में अनुभव किया जो निश्चित ही अपने आप में अद्वितीय है। सूरदास के काव्य को प्रमुखतः छः भागों में बांट कर देखा जा सकता है।

1. विनय के पद
2. बालक कृष्ण से सम्बन्धित पद,
3. कृष्ण के रूप-सौंदर्य सम्बन्धी पद,
4. कृष्ण और राधा के रति भाव सम्बन्धी पद,
5. मुरली सम्बन्धी पद, और
6. वियोग शृङ्गार अथवा भ्रमर गीत के पद।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यकता बन जाती है कि सूरदास के वर्ण्य-विषय में बहुधा में भेद देखने को मिलता है वह अकारण नहीं है। जैसे कि प्रचलित अवधारणा है कि श्री वल्लभाचार्य के आचार्यत्व एवं गुरुत्व को स्वीकार करने से पहले सूरदास केवल विनय के पदों की रचना करते थे एवं श्रीकृष्ण को वास्तविक में ईश्वर रूप में स्वीकार करने का साहस सूरदास केवल वल्लभाचार्य से मिलने के बाद ही प्रदर्शित कर सके। इन्हीं सन्दर्भों में यहाँ यह कहना उचित होगा कि सूरदास के संबंध में ज्ञान के दो रूप हमारे सामने आते हैं। ज्ञान का पहला स्वरूप वह है जहाँ सूरदास श्रीकृष्ण को पूर्ण रूप में ईश्वर समझ कर उनसे आत्मनिवेदन करते हैं। ऐसा लगता है कि ज्ञान की इस सीमा में सूरदास ने गुणों के आधार पर श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व को स्वीकार किया है। उनका यह ज्ञान अनुभव शून्य है। यह कहना इसलिये संभव है कि आत्मनिवेदन एवं विनय के पदों का मसौदा केवल अपने को अवगुणी मान कर ईश्वर को मातृ रूप में स्वीकार करते हुए उनसे क्षमा प्रार्थना की याचना करना एक बात है परन्तु दूसरी ओर उसी को अनुभव कर उस ईश्वर की लीला का बखान करना निश्चित रूप से एक अलग बात है।

इन्हीं सन्दर्भों में यह कहना सार्थक होगा कि सूरदास के पदों में वर्णित वास्तविक कृष्ण माधुरी का श्रेय उन्हीं को जाता है क्योंकि श्री वल्लभाचार्य से मिलने से पहले उनके काव्य (विनय के पद) में भक्ति का जो स्वरूप हमारे

सामने आता है उन पदों के माध्यम से सूरदास का दास्य भाव स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिये उनके प्रसिद्ध पदों जैसे "**चरन कमल बन्दौं हरि राइ।**" अथवा "**जापर दीनानाथ ढरै।**" अथवा "**जैसे तुम गज को पांव छुडायौ।**"[11] को यदि हम ध्यान से देखें तो इनमें सूरदास की दैन्य भावना। एवं आत्म निवेदन के तत्त्व अधिक मिलते हैं परन्तु बाल कृष्ण रूप वर्णन आदि में जैसा चित्रण हमें देखने को मिलता है वह अपने पूर्व रूप से नितान्त भिन्न है।

पुष्टिमार्ग प्रारम्भ हुया तो बाल कृष्ण की उपासना का ही चलन था अत : कवियों ने कृष्ण के बाल रूप को पहले पहले चित्रित किया यदि वात्सल्य रस का नाम लें तो सबसे पहले सूरदास का नाम आता है, जिन्हें आप इस विषय का विशेषज्ञ कह सकते हैं। उन्होंने कान्हा के बचपन की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियाँ भी ऐसी चित्रित की है, मानो वे स्वयं वहाँ उपस्थित हों

मैया कबहूँ बढेगी चोटि ?
किनी बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।

सूर का वात्सल्य केवल वर्णन मात्र नहीं है | जिन जिन स्थानों पर वात्सल्य भाव प्रकट हो सकता था, उन सब घटनाओं को आधार बनाकर काव्य रचना की गयी है। माँ यशोदा अपने शिशु को पालने में सुला रही हैं और निंदिया से विनती करती है की वह जल्दी से उनके लाल की अंखियों में आ जाए।

जसोदा हरी पालनै झुलावै।
हलरावै दुलराय मल्हरावै।
जोई सोई कछु गावै
मेरे लाल कौ आउ निंदरिया,
काहै मात्र आनि सुलावै
तू काहे न बेगहि आवे,
तो का कान्ह बुलावें।

यह तो स्पष्ट है कि हृदय के मर्म को स्पर्श कर सकने की प्रबल शक्ति जैसी सूर के विनय के पदों के अतिरिक्त सभी पदों में मिलती है वैसी हिन्दी साहित्य की किसी भी अन्य काव्य धारा में अविद्यमान है और यही उनका काव्यगत वैशिष्ट्य है। स्नेह, वात्सल्य, ममता और प्रेम के जितने भी संभव रूप मानवीय जीवन में अनुभव योग्य हैं वे लगभग सभी किसी न किसी रूप में सूरसागर में प्राप्त हो जाते हैं। भावों की सूक्ष्म विविधता और अनेक रूपता तक उन की सहज गति थी यह सूरसागर के कृष्ण की लीलाओं के चित्रण को देखने से स्पष्ट हो जाता है। वात्सल्य और शृङ्गार के वे अद्वितीय कवि कहे जा सकते हैं क्योंकि जो मनुष्य जीवन के चरम को शब्दों के माध्यम से पाठक को अनुभूति करवाते हैं वह अनुभूति काव्य की किसी अन्य धारा के माध्यम से अनुभूत करवा सकना साधारण कार्य नहीं है। यह तथ्य उन्हीं द्वारा रचित पद्य के माध्यम से स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि उस परम तत्त्व को यशोदा ने अपने गले लगा कर जैसे सुख का अनुभव किया वह

सुख किसी भी देव अथवा मनुष्य को सुलभ नहीं है। सूरदास इसे यशोदा के पूर्व जन्मों में की गयी भक्ति का प्रताप मानते हैं। इसीलिये मां यशोदा का भाग्य सर्वोत्तम है।

भ्रमर-गीत में सूरदास ने उन पदों को समाहित किया है जिन में मथुरा से कृष्ण द्वारा उद्धव को ब्रज संदेश दे कर भेजते हैं। उद्धव ज्ञानयोग के प्रकाण्ड ज्ञाता हैं। उनका प्रेममार्ग से दूर-दूर तक का कोई सम्बन्ध नहीं है। गोपियाँ व्याकुल उद्धव से जब श्री कृष्ण के विषय में बात करती हैं तो वे निराकार ब्रह्म और योग के विषय में गोपियों को प्रवचन करने लगते हैं। इस पर खीज से भरी गोपियाँ उन्हें 'काले भंवरे' के माध्यम से उनको उलाहना देती हुई उद्धव को बताती हैं कि वे प्रेममार्गी भक्त हैं और उसके लिये। निराकार ब्रह्म एवं ज्ञान योग विषयक उपदेश शून्य के समान है क्योंकि ज्ञान योग आदि की बातें उनकी समझ से बाहर हैं। उनकी पूर्ण निष्ठा ईश्वर के साकार रूप के प्रति है जो श्रीकृष्ण के माध्यम उनके उपास्य हैं। भ्रमर गीत में गोपियों की वचन वक्रता मनोहारिणी होने के साथ साथ भी ज्ञान योग से प्रेमाभक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करती हैं। ऐसा उपालंभ काव्य संपूर्ण विश्व काव्य में अभी तक अनुपलब्ध है। वस्तुतः राधाकृष्ण प्रेमनिरूपण में कई स्थानों पर हमें ऐसे अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ कृष्ण तन्मयता से गोपियों के साथ रास रचाते हैं भागवत के कृष्ण स्वयं गोपियों से निर्लिप्त रहते हैं। गोपियाँ बारबार प्रार्थना करती है तभी वे प्रकट होते हैं। सूरदास जी ने राधाकृष्ण के अनेक प्रसंगों का चित्रण कर उन्हें एक सजीव व्यक्तित्व प्रदान किया है। अत: सूरदास ने श्री कृष्ण के चरित्र को नाना रूप एवं रंग प्रदान किये हैं, जो काफी लीलामयी व मधुर एवं हृदयग्राही जान पड़ते हैं।

'**भ्रमरगीत**' के माध्यम से गोपियों का विरह-वर्णन भी उन्होंने जिस तन्मयता के साथ सूरदास ने भ्रमरगीत में प्रस्तुत किया है वह स्वयं में दर्शनीय एवं श्लाघनीय है। 'भागवत' से सूरसागर की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सूरदास ने 'भागवत' का अनुवाद न कर के मौलिक रूप से कृष्ण की लीलाओं का चित्रण किया है और अनेक स्थानों पर ऐसी मौलिक उद्भावना भी प्रस्तुत की है जिसका आभास तक 'भागवत' में नहीं मिलता है। ऐसे में 'निर्गुण' पर 'सगुण' एवं ज्ञान योग पर भक्ति योग की श्रेष्ठता सिद्ध करना सूरदास की ऐसी ही मौलिक उद्भावना का ही उदाहरण है। इस प्रकार कृष्ण ने अपनी अपनी चारित्रिक विशेषताओं द्वारा भक्तों के मानस को आन्दोलित किया।

सूरदास की भाषा अत्यन्त परिष्कृत समर्थ एवं भावानुकूल है। शैलीगत और छन्दोगत विविधता भी उनकी रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अलंकार चमत्कार का भी इतना समावेश है कि रीति कवियों की रचनाएँ जूठी-सी जान पड़ती है। यह सूरदास की अपनी विशेषता है कि उन्होंने काव्य-कौशल को भावतत्व से ऊपर नहीं आने दिया। लगता है जैसे सारा काव्य-वैभव उनको अनायास ही उपलब्ध हो गया हो। कहीं-कहीं ऐसी पुनरावृत्ति भी मिलती है जिससे ऐसा लगता है कि कवि ने विशेष मनोयोग से रचना नहींकी, पर श्रेष्ठ स्थल इतने अधिक हैं कि यह दोष नगण्य हो जाता है। सूर ने मनोविनोद और कौशल के भाव से कुछ कूट पदों की भी रचना की है जिनका अर्थ समझना कहीं-कहीं दुरूह है।

सूरदास ने अपने काव्य में भावात्मकता को ही अधिक प्रधानता दी। संगीत के माधुर्य से मानो उनका काव्य और निखर आया। उनका काव्य का भाव व कला पक्ष दोनों ही प्रौढ़ हैं एवं तत्कालीन जन ने उनका

भरपूर रसास्वादन किया। कृष्ण भक्ति साहित्य ने सैकड़ो वर्षों तक भक्तजनों का हृदय मुग्ध किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कृष्ण की लीलाओं के गान, कृष्ण के प्रति सख्य भावना आदि की दृष्टि से ही कृष्ण काव्य का महत्व नही है, वरन् आगे चलकर राधा कृष्ण को लेकर नायक नायिका भेद नख शिख वर्णन आदि की जो परम्परा रीतिकाल में चली उस के बीज इसी काव्य मे सन्निहित है। रीतिकालीन काव्य मे ब्रजभाषा को जो अंलकृत और कलात्मक रूप मिला, वह कृष्ण काव्य के कवियों द्वारा भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने के कारण ही संभव हो सका। सूरदास का समस्त साहित्य वास्तव में रस का आगार है जिसमें भावों की प्रधानता विविधता और अनेकरूपता के सहज दर्शन होते हैं। अत: यह कहना समीचीन ही होगा कि मानव हृदय के अन्तर्तम भावों को व्याख्यायित करने वाले कवि से यही आशा और अपेक्षा भी होती है जो अपनी नवीन उद्भावनाओं कोमल कल्पनाओं के माध्यम से उस। परम तत्त्व का साक्षात्कार करवा सके। काव्य क्षेत्र में इसी कारण ही सूरदास हिंदी साहित्य के सवश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सूरदास बड़े भावुक भक्त थे। उनकी आत्मानुभूति की ही यह विशेषता है कि इतिवृत्तात्मक पद्धति को अपनाने पर भी उच्चकोटि की गीतिमत्ता से उनका काव्य वियुक्त नहीं हुआ। *सूरसागर* उनकी साहित्यिक निपुणता तथा प्रकृति के सौंदर्य और मानव हृदय की गहराइयों के पर्यवेक्षण का प्रतिफलन है।

सन्दर्भ

1. कविराज गोपीनाथ: *पूजा तत्त्व* पृ.61
2. वही पृ.62
3. वही पृ 63
4. वही पृ 52
5. वही पृ. 36
6. वही पृ 37
7. विजय: *ब्रजभूमि मोहिनी*, पृ 393
8. *श्रीमद्भागवत पुराण* 10.33.37
9. *श्रीमद्भागवदपुराण* 10.32.17-19
10. *श्रीमद्भागवदपुराण* 10.33.40
11. धीरेन्द्र वर्मा: *सूरसागर सार*

हिन्दी प्रवक्ता
वी.वी.बी.आई.एस.एण्ड.आई.एस.,
पंजाब विश्वविद्यालय, साधुआश्रम
उना रोड, होशियारपुर, पंजाब
दूरभाष-9417188202

नारद एवं शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में भक्ति तत्त्व

डॉ. दीपमाला

भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न भक्ति शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—भजन, भाग, भञ्जन। भगवान् की लीला का, गुणों का, रूपादि के दर्शन का अपूर्व रसास्वादन भजन भक्ति है। भजन द्वारा ईश्वर का अंशीभावत्व भाग भक्ति है। रागद्वेषमोहादि का नाश भजन भक्ति है।

ईश्वर विषयक अतिशय प्रीतियुक्त यह सविशेष ज्ञान ही भक्ति कहलाता है। भगवत्तत्व का परिचय, भगवत्स्वरूप का दर्शन तथा ईश्वर के साथ तन्मयता भक्तियोग से ही सुलभ होती है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्या अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।[1]

देवर्षिनारद भी भक्ति को सर्वाधिक श्रेष्ठ मानते हुए कहते हैं—**भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।**[2]

भक्ति परम्परा अत्यन्त प्राचीन एवं निरन्तर प्रवाहित अजस्र धारा के समान है, जिसे अनेक भक्त आचार्यों ने पुष्ट किया है। भागवतधर्म के प्रतिपादक ग्रन्थों में *श्रीमद्भागवत, पाञ्चरात्रग्रन्थ, नारायणीयोपाख्यान, श्रीमद्भगवद्गीता, भक्ति रसायन* (मधुसूदन सरस्वती रचित) भागवत की टीका वेदान्त परम्परा के विभिन्न ग्रन्थ, *नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र* आदि मुख्य रूप से प्रसिद्ध हैं।

देवर्षि नारद ने 84 सूत्रों द्वारा भक्ति को व्याख्यायित किया है, तो शाण्डिल्य मुनि ने 100 सूत्रों द्वारा भक्ति का विवेचन किया हैं इस शोधपत्र में नारद एवं शाण्डिल्य भक्तिसूत्रों का आश्रय लेकर भक्ति तत्त्व के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला जायेगा।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए महर्षि नारद कहते हैं—**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।**[3] यहाँ तु – समुच्चयार्थक, अस्मिन् – परमात्मनि, परमप्रेमरूपा – परम: च तद् प्रेम परमप्रेम, परमप्रेम रूपं स्वरूपं यस्याः साः भक्तिः। परमानन्दरूप परमेश्वर में जीवात्मा का अनन्य प्रेम भक्ति है। यहाँ परम पद के ग्रहण का तात्पर्य है कि संसार के सभी प्रकार के प्रेम से परमात्मा के प्रति प्रेम विलक्षण है। परमात्मा अनन्त आनन्द का केन्द्र है। अनन्त रसस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर ही जीव आनन्द से पूर्ण हो सकता है। परमात्मा की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करती हुई श्रुति भी कहती है—'**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**'[4] यदि यह परमात्मा रसरूप न होता तो संसार में आनन्द की अनुभूति भी नहीं होती।[5] महर्षि

शाण्डिल्य भी ईश्वर के प्रति परम अनुराग को भक्ति कहते हैं।[6] किन्तु यह लौकिक राग से विलक्षण है, रस शब्द से वाच्य होने के कारण।[7] उपनिषद् एवं गीता भी इसका समर्थन करती है—

रसः ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।[8]
रसवर्ज रसोऽप्यस्य।[9]

'परमप्रेम रूपा' भक्ति का बाह्य स्वरूप है, भक्ति का आन्तरिक स्वरूप उसका अमृत रूप होना है—'**अमृतस्वरूपा च।**'[10]

भक्ति का प्रेमरूपा होना सर्वजनगम्य है, किन्तु इस भक्ति की अमृतस्वरूपता आत्मगम्य है। अमृतरूपा भक्ति वस्तुत: भगवद्रूपा ही है भक्ति और ईश्वर का अविनाभाव सम्बन्ध है। जब साधक अन्त: रूप से ईश्वर के साथ सम्बद्ध होता है तब वह अमरता को प्राप्त करता है। ऋषि शाण्डिल्य भी भक्तिसूत्रों में कहते हैं—'**तत्संस्थस्य अमृतत्वोपदेशात्।**'[11] *छान्दोग्योपनिषद्* भी कहता है—**ब्रह्मसंस्थो मृतत्वमेति।**[12] भक्ति के फल की अनन्तता से ही भक्ति की अमरता है।[13] कर्म रूप धर्म फल देकर क्षीण हो जाते हैं (**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**) किन्तु भक्ति निरन्तर विद्यमान रहने से अमृतरूपा होती है।

भक्ति परमशान्ति एवं परमानन्द रूप भी है—**शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च।**[14] निर्मल तन–मन–चित्त से परमप्रभु के प्रति अनुराग से आबद्ध भक्त परमशान्त होते हैं तथा परमानन्द में निमग्न रहते हैं।

इस प्रकार भक्ति परमप्रेमरूपा, परानुरक्ति रूपा, अमृतरूपा, शान्ति रूपा एवं परमानन्द रूपा है।

भक्ति की श्रेष्ठता

परमेश्वर प्राप्ति व मुक्ति की चार उपासना पद्धतियाँ प्रसिद्ध हैं—कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति। महर्षि नारद हो या शाण्डिल्य ऋषि या वासुदेव कृष्ण सभी ने भक्ति मार्ग को अन्यमार्गों से श्रेष्ठ बतलाया है। भक्ति की श्रेष्ठता के अनेक हेतु भी उपस्थापित किये हैं—

ईश्वर में विश्वास, श्रद्धा और अनुराग भक्ति का मूल हैं। उपासना सरणी कोई भी हो किन्तु उन सभी में ईश्वर के प्रति विश्वास, श्रद्धा, प्रेम आवश्यक है। अतः कर्म, ज्ञान व योग का भक्ति में अन्तर्भाव माना गया है। कर्म, ज्ञान एवं योग की सफलता भी परमभक्ति भाव से ही मानी गयी है। अतः भक्ति श्रेष्ठ है—**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।**[15]

प्रभुप्राप्ति के अन्य साधनों में दक्षता, नियम साध्यता, दुरूहता अधिक है। भक्ति मार्ग में नियमों की कठोरता नहीं है। सात्विकता शुचिता और निर्मल भाव में अपने ईष्ट प्रभु के संग एकीभाव की स्थापना ज्ञान, कर्म एवं योग से सहज उपलब्ध है। अतः भक्ति ग्राह्या है—**तत्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः।**[16]

कर्म, ज्ञान व योग से सिद्धि आदि फल होते हैं। किन्तु भक्ति तो स्वयं फल रूपा है।[17] ईश्वर की कृपा का ही फल भक्ति है। निम्बार्काचार्य के अनुसार "**कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायत्।**" इस भगवत्प्रसादरूप भक्ति

के प्राप्त होने से मायाबद्ध जीव मुक्त होता है। भक्त का योगक्षेम ज्ञानयोगादि इतर साधन भगवच्छरणागति संगति की अपेक्षा करते हैं। अत: भक्ति ही मुख्य है –**सा मुख्येतरापेक्षितत्वात्।**[18]

इसमें अनेक हेतु प्रस्तुत किये गये हैं—भक्ति ज्ञानरूप नहीं है। क्योंकि ज्ञान तो द्वेष रखने वाले शत्रु का भी होता है—**ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः॥**[19]

भक्ति का उदय होने पर ज्ञान का क्षय होता है इसलिये भक्ति और ज्ञान में एकता है–**तयोपक्षयाच्च।**[20]

भक्ति क्रियारूप नहीं है, क्योंकि ज्ञान की भांति वह भी कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती है—**न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्॥**[21]

अतः अन्य साधन अंग है और भक्ति भी है।

भगवान् स्वयं वहन करते हैं। भगवत्कृपा का फल होने से भी भक्ति श्रेष्ठ है—**फलरूपत्वात्।**[22]

सनत्कुमारों ने भी भक्ति को फल रूप बताया है।[23]

कर्म, ज्ञान, योग, मार्ग में कर्तृत्व का किञ्चित् अहं विद्यमान रहता है। अहंकार की सत्ता ईश्वर प्राप्ति में बाधक है। भक्ति में अहंकार की सत्ता ईश्वर प्राप्ति में बाधक है। भक्ति में प्रभु के प्रति प्रेम विह्वलता ही परमश्रेष्ठ दैन्यभाव है, जो प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। परमप्रेमाभक्ति में अहं का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। अत: भक्ति श्रेष्ठ है–**ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।**[24] अतः भक्ति में ईश्वर प्राप्ति स्वाभाविक रूप से सुलभ है।

भक्ति साधन है और ज्ञान साध्य है यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान के बिना भी भक्ति हो सकती है—**तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके।**[25] यथा बृजगोपिकाओं को बिना ज्ञान के ही भक्ति की प्राप्ति हुई थी।

प्रमाणान्तर की अपेक्षा न होने से भी भक्ति श्रेष्ठ है—**प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्।**[26]

कर्म मार्ग में धर्मशास्त्र स्मृति आदि प्रमाण है। ज्ञान मार्ग में शास्त्र प्रमाण है। योग मार्ग में आसन, अभ्यास आदि अनुभव के लिए अनुमान, उपमान आदि का आश्रय आवश्यक है किन्तु भक्ति के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। भक्ति में भक्त के हृदय में उत्पन्न सुखानुभूति स्वयं प्रमाण है। भक्ति साक्षात् परिणाम प्रदान करने वाली है।

अत: भक्ति ज्ञान, कर्म, योगादि से भी श्रेष्ठ है।[27] भगवान् ने भी कर्मी, ज्ञानी तथा योगी से भक्त को ही श्रेष्ठ बताया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥[28]

भक्ति के साधन

परमप्रेम भक्ति की प्राप्ति के उपायों का विस्तृत चिन्तन भक्ति सूत्रों में प्राप्त होता है। वह भक्ति विषयत्याग और संगत्याग से सम्पन्न होती है—**तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च।**[29] मानसिक विषयासक्ति से विषयावृत्ति उत्पन्न होती है। अत: मानसिक रूप से विषय आसक्ति व शारीरिक रूप से विषय संग का त्याग, भक्ति का मुख्य साधन है। विषय संग त्याग से भक्ति सहज प्राप्त हो जाती है।

निरन्तर अखण्ड भगवद् भजन से परम कृपा रूप भक्ति की प्राप्ति होती है—**अव्यावृतभजनात्।**[30] लोक में भी भगवान् की महिमा गान, भगवद् लीला-कथा श्रवण, भगवद् नाम कीर्तन को ही भक्ति माना गया है।

परन्तु पराभक्ति की प्राप्ति में मुख्य हेतु तो महापुरुषों की कृपा है वह भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है—**मुख्यतस्तु महत्कृपयेव भगवत्कृपालेशाद्वा।**[32]

भगवान् की महती कृपा जन्मजन्मान्तर के प्रभु भजन एवं अखण्ड श्रद्धा से प्राप्त होती है। क्योंकि भगवद् भाव में उन्मत्त परमहंस महात्मा का संग दुर्लभ और अगम्य है।[33] वह परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होता है।[34] क्योंकि भगवान् और भक्त में भावनागत भेद नहीं होता है। अत: पराभक्ति में लीन भक्त महात्मा की सेवा संग सदैव प्राप्य है।[35] सज्जन संगति सदैव साध्य है तो दु:सङ्ग सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि दु:सङ्ग अनेक दोषों को उत्पन्न करता है जो भक्ति में बाधक है।[36] महर्षि शाण्डिल्य ने भी भगवन्नाम श्रवण, वन्दन आदि गौणी भक्ति को पराभक्ति साधन स्वीकार करते हैं।[37]

भक्त की मनोवस्थिति

भक्ति की अवस्था में साधक विषय का त्याग व संसार में निष्काम, निर्लिप्त भाव से विचरता हुआ परमार्थी भागवत भक्त की सेवा करता है और सांसारिक फलाकाङ्क्षा से रहिता, ममता रहित होता है। सम्पूर्ण विषयाकाङ्क्षाओं से विरक्तचित्त वह नियमित, शुद्ध, शांत स्थान पर प्रभु का ध्यान स्मरण करता हुआ मायावरण को क्षीण कर लौकिक ऋणानुबन्धों से मुक्त हो जाता है तथा अपने योगक्षेम की चिन्ता त्याग कर त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से परे हो जाता है। सम्पूर्ण कर्म फलों का त्यागकर कर्मों से भी संन्यास ले लेता है तथा द्वन्द्वातीत हो प्रभु सायुज्य को प्राप्त कर लेता है।[38]

भक्ति में प्रवृत्ति का माहात्म्य

जब साधक भक्तिमार्ग में परमप्रेमरूपा, अमृतरूपा भक्ति को प्राप्त कर लेता है तो उसकी कोई भी सांसारिक व दिव्य वस्तु की कामना अवशिष्ट नहीं रहती, अत्यन्त विकट परिस्थिति में भी शोक नहीं करता, न ही किसी से द्वेष करता है न लौकिक पदार्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।[39] श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।**[40]

भक्ति को प्राप्त कर साधक को सिद्धि अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य स्वत: प्राप्त होते हैं। जन्म मरणादि से मुक्त हो परमात्मरूपता को धारण कर अमरता को प्राप्त करता है। तृप्त हो जाता है। अर्थात् जीवनमुक्ति को प्राप्त करता है। सांसारिक सुख दु:ख आदि से पीड़ित होने पर भी वह सभी दशाओं में प्रसन्न और तृप्त रहता है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति।[41]

स्वयं को परमात्म स्वरूप जानकर उसी में रमण करता है, तृप्त होता है, विश्राम करता है।[42] भक्ति का माहात्म्य ही है कि वह भक्त स्वयं के साथ अन्य लोगों को भी भवसागर के पार कर देता है।[43]

परमप्रेम का स्वरूप

भक्ति परमप्रेमलक्षणा है। इस परम प्रेम का क्या स्वरूप है यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।। प्रकाशते क्वापि पात्रे।
गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनु भवरूपम्।
तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।[44]

यह परमप्रेम अत्यन्त विलक्षण है इसका शब्दों में कथन नहीं किया जा सकता है, निरन्तर प्रवर्धित होता रहता है, अनुभव मात्र गम्य है। इस प्रेम को प्राप्त कर ईश्वर को ही देखता है, सुनता है, चिन्तन करता है। अत: यह अनन्यप्रेम है।

इस प्रकार भक्तिसूत्रों में भक्ति का अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्राप्त होता है।

सन्दर्भ

1. *गीता* – 11/3.4
2. *नारदभक्ति सूत्र* 81
3. *नारदभक्ति सूत्र* 2
4. *तैत्तिरीयोपनिषद्*
5. आनन्दाद्धद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते – *तैत्तिरीयोपनिषद्*
6. सा परा नुरक्तिरीश्वरे – *शाण्डिल्यभक्ति सूत्र* – 2
7. द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः। – *शाण्डिल्य भक्तिसूत्र* – 6
8. *तैत्तिरीयोपनिषद्* 2/7
9. *गीता* – 2/59
10. *नारद भक्तिसूत्र* – 3
11. *शाण्डिल्यभक्ति सूत्र* – 3
12. *छान्दोग्योपनिषद्* 23.2
13. अत एव फलानन्त्यम् – *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र* 8
14. *नारद भक्तिसूत्र* – 60
15. *नारदभक्ति सूत्र* – 25
16. *नारदभक्ति सूत्र* – 33
17. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा – *नारदभक्ति सूत्र* 38
18. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र* – 10

19. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र* - 4
20. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र* - 5
21. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र* - 7
22. *नारदभक्ति सूत्र* - 26
23. स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः। - *नारदभक्ति सूत्र* - 30
24. *नारदभक्ति सूत्र* - 27
25. *नारदभक्ति सूत्र* - 28
26. *नारदभक्ति सूत्र* - 59
27. तदेव कार्मेज्ञानियोगिभ्य आधिक्य शब्दात्। - *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र* - 22
28. *गीता* 6/46-47
29. *नारदभक्ति सूत्र* - 35
30. *नारदभक्ति सूत्र* - 36
31. लोके पि भगवतगुण श्रवणकीर्तनात् - *नारदभक्तिसूत्र* - 37
32. *नारदभक्ति सूत्र* - 38।
33. *नारदभक्ति सूत्र* - 39
    ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली- *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र* - 63
34. लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव - *नारदभक्ति सूत्र* - 40
35. *नारदभक्ति सूत्र* - 41, 42
36. *नारदभक्ति सूत्र* - 43-45
37. भक्त्याभजनोपसंहाराद्गौण्या परायैतद्धेतुत्वात्।
    रागार्थप्रकीर्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम्। - *शाण्डिल्यभक्तिसूत्र* 56-63
38. *नारदभक्ति सूत्र* - 46-48।
39. यत्प्राप्य न कश्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्सही भवति। -*नारदभक्ति सूत्र*-5
40. *गीता*
41. *नारदभक्ति सूत्र* - 6
42. यत् ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति - *नारदभक्ति सूत्र* - 6
43. स तरति स तरति स लोकांस्तारयति। - *नारदभक्ति सूत्र* - 50
44. *नारदभक्ति सूत्र* - 51-55

संस्कृत-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।
606 जाटावास, महामन्दिर, जोधपुर-342010
दूरभाष : 9414125551

प्रेमा भक्ति : नारद एवं आळवारों के सन्दर्भ में

डॉ. लक्ष्मी अय्यर

धर्म प्राण भारत देश में भक्ति का स्थान सर्वोपरि है। भक्ति भारतीय सनातन हिन्दू धर्म से जुडकर उज्ज्वल भारतीय सांस्कृतिक धार्मिक मानवीय, सामजिक मूल्यों की रक्षा करती हुयी **वसुधैव कुटुम्बकम्** की कामना से निरन्तर आगे बढ़ रही है। भक्ति का शाब्दिक अर्थ है—सेवा, सुश्रुषा, पूजा, अर्चन आदि। भगवान् के प्रति एकाग्र भाव से अनन्य भाव से प्रपत्ति भाव से उनके सान्निध्य की मनोकामना से उनका निरन्तर स्मरण, भजन करते हुए अटूट विश्वास के साथ असीम अनुराग रखना भक्ति कहलाती है।

विष्णु के परम भक्त, त्रिलोक संचारी नारद महर्षि ने 82 भक्ति सूत्रों को रचा था जिस में भक्ति की परिभाषा, लक्षण, भक्ति के प्रकार, भक्ति के स्वरुप का विशद वर्णन मिलता है। इस शोधालेख में नारद द्वारा चर्चित प्रेमा भक्ति के साथ उसे तमिल आळवार संतों के पाशुरों में व्यक्त प्रेमा भक्ति के साथ तुलना करने का प्रयास किया गया है।

नारद अपने प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहते हैं '**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा**' कहकर भक्ति को प्रेम का पूर्ण स्वरूप बताते हैं। '**अमृतस्वरूपा च**' कहते हुए उसे मधुर टहराते हैं। शाश्वत ब्रह्मानन्द दिलानेवाली अमृतमयी शक्ति भक्ति में निहित है।

दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर खींचनेवाला एक मात्र सूत्र प्रेम है। जो अधिकार से, बल से प्राप्त न होता है वह प्रेम से मिलता है। पवित्र प्रेम में अपने सन्निहितों के प्रति विशेष श्रद्धा, ध्यान, अनुराग रखने के कारण उन पर अधिकार स्थापित करने की क्षमता भी प्रेम में होती है। प्रेम की महिमा सारे साहित्यकारों ने स्वीकारी है। तमिल के ईश्वरीय कवि *तिरुक्कुरल* के रचयिता तिरुवल्लुवर प्रेम के बारे में कहते हैं—"बिना प्रेम के रहनेवाले मनुष्य शव के समान है। उन्होंने ऐसे व्यक्तियों की तुलना अस्थियों से घिरे चमड़े से की। हिंदी कवि कबीर ने भी यही भाव व्यक्त किया।"

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।

वे आगे कहते है दिल में रहनेवाले प्रेम से अपने प्रेम पात्र व्यक्ति या वस्तुओं को भी देखने मात्र से शरीर पुलकित होकर होकर स्मतियों से प्राप्त प्रेम से अनायास आँखों से आँसू निकलते हैं। सारे कृष्ण भक्त कवियों में अपने आराध्य प्रियतम परमात्मा श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम के कारण उनका हृदय माँ यशोदा के माध्यम

से कभी गोपियों के माध्यम से, कभी ग्वालों के माध्यम से प्रेम में रम जाता है। भारत की सबसे प्राचीन साहित्यिक दृष्टि से अति संपन्न भाषा तमिल में 12 वैष्णव संत हुए उन्हें आळवार की संज्ञा दी गयी है। आळवारों ने जो पाशुर (गीत) रचे थे उनका संकलन श्रीनाथ मुनि ने की जिनकी संख्या चार सहस्र है। इसलिए वे *नालायर दिव्य-प्रबन्धम* के नाम से विख्यात हुए।

आळवारों की संख्या बारह हैं—प्रथम तीन आळवारों का मुदलालवार यानी प्रथम तीन आळवारों का मुदलालवार यानी प्रथमत्रय या आदित्रय कहा जाता है, वे हैं—पोयगै आळवार भूदत्तु आळवार, पेयाळवार, तिरूमलिचै आळवार, नम्माळवार, मधुर कवि आळवार, कुलशेखर आळवार, पेरियाळवार, आंडाल, तोंडरडिप्पोडि आळवार, तिरूप्पाणाळवार, तिरूमंगै आळवार।

लौकिक रिश्तों से प्रकट होने वाला प्रेम जैसे मातृप्रेम, पितृप्रेम, वात्सल्यप्रेम, पत्नीप्रेम, पतिप्रेम, सखाप्रेम आदि को भगवान् श्रीकृष्ण को व्यक्त करके उन्होंने अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने की सफल कोशिश की। भगवान् से भक्त का प्रेम साधारण प्रेम नहीं बल्कि परम प्रेम है।

कृष्णभक्त कवियों द्वारा वर्णित भक्ति रस आदि से अन्त तक कृष्ण प्रेम रूपी अमृत से भरा हुआ है। अपने बेटे से माँ का प्रेम, जो वात्सल्य रस से पूर्ण है। उसका यथार्थ चित्रण पेरियारवाल ने यसोदा के माध्यम से किया है। गोपियों द्वारा कही गयी शिकायतों का सुनकर यशोदा श्री कृष्ण से कहती है—"केशव उधर खड़े होकर देखते नही रहना। इनकार मत करो। इधर आओ। जिन के लिए तुम्हारे प्रति प्रेम नही, उनके घर में जाकर मत खेलो। अफवाहें फेलानेवाली नौकरानी नौकरों के पास जाकर मत खेलों। इधर आओ। माँ की बातों का मानना बच्चों का कर्तव्य है। पहले की तरह मुझे रस्सी से बंधवाने का काम मत दे दो। इसलिए इधर आओ।"(57) दूसरों के सामने पवित्र-प्रेम से पूर्ण मात्र हृदय अपने बच्चों का अपराध स्वीकार नहीं करती।(58) सूर की यशोदा भी पेरियालवार की यशोदा जैसी है—वह श्री कृष्ण को माखन चोर नही मानती।(59)

पेरियाळवार द्वारा चित्रित यशोदा पवित्र प्रेम स्वरूपिणी है। श्रीकृष्ण को गाय चराने भेज देने के बाद वह खुद अपने काम के लिए पछताती है। प्रेम में एक ऐसा महत्त्व है कि जिन पर प्रेम रखते है, उन्हें थोड़ा-सा भी कष्ट होने पर भी हम रोने लगते है। पछताने लगते है। यशोदा कृष्ण को भेजने के बाद इस प्रकार पछताती है—"काँटों से, पत्थरों से भरे जंगल में बिना छतरी (या) पदत्राण भेजने वाली मैं कितनी कठिनात्मा हूँ।"(60)

बालक कृष्ण जूते पहने बिना, छतरी लिए बिना गाय चराने जंगल गया। उसे भेजने के बाद माँ यशोदा पछताने लगती है कि और अपने को कठिनात्मा कहकर कोसने लगती है। यह माँ के पवित्र प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है।

तिरुमलिचे आळवार तो कृष्ण प्रेम को ही जीवन का एक मात्र सहारा मानते है। कृष्ण प्रेम के बिना आळवार की कुछ भी नही है।(61) तिरुमलिचे आळवार की भक्ति प्रेमरस से भरी हुई कृष्णामृत है।(62)

भक्त आण्डाल द्वारा कृष्ण के प्रति दिखाई गयी प्रेमभावना माधुर्य प्रेम है। आण्डाल कोयल से अपने प्रिय श्रीकृष्ण को मिलाने की प्रार्थना करती है। उनके प्रेमाभक्ति का यह ज्वलंत उदाहरण है। श्रीकृष्ण के वियोग में मेरी आँखे पर पलकें बैठती नहीं (अटूट प्रेम के कारण) मेरे दुःख सागर को पार करने श्रीकृष्ण मिलन रूपी नाव चाहिए। जिसके प्रति मन में प्रेम हो उनसे अलग रहना रोग जैसा है। उसके बारे में तुम्हें भी मालुम हो। सुवर्ण रंगवाले विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण को बुलाते हुए तुम कूकना शुरू करो। श्रीकृष्ण के वियोग में वह अपने को रोग से ग्रस्त रोगिणी महसूस करती है। कोयल की कूक के माध्यम से भी वह कृष्ण का नाम रटना चाहती है।

अळवारों में तीन आळवारों ने ही वात्सल्य रस का वर्णन किया है। आळवारों में प्रसिद्ध पेरियाळवार जैसा वात्सल्य वर्णन करना किसी भी कवि संभव नहीं। उन्हने वात्सल्य वर्णन के प्रत्येक बाहा शैली को अपनाया है जो 'पिल्लै तमिल' नाम से प्रसिद्ध है। पेरियालवार ने तमिल साहित्य की प्राचीन शैली पिल्लै तमिल में बालक श्री कृष्ण का वर्णन करते हैं। जन्म से लेकर एक साल तक होने वाली बालक की चेष्टाओं के दस वयोखंडों में विभाजित करके प्रत्येक वयोखंड में होने वाली चेष्टाओं का विस्तार रूप से वर्णन किया है।

बालवर्णन के समय भक्त आळवार अपने आराध्य ओ अलौकिक समझते हुए भी इतने सहज स्वाभाविक रूप में वर्णन करते हैं कि वे हमारे नेत्रों के समक्ष हँसते मुस्कुराते हुए घुटनों के बल पर रेंगते हुए, उठ-उठकर गिरते हुए, इधर-उधर दौड़ते हुए, मित्रों से झगड़ते हुए माँ से झूठी शिकायत करने वाले किसी नटखट भोले-भाले चंचल बालक की छवि के रूप में उपस्थित होते हैं। पेरियाळवार ऐसे एक कमनीय कवि हैं जिन्होंने तमिल साहित्य में सर्वप्रथम 'पिल्लै-तमिल' शैली को अपनाया है। इनके द्वारा ही तमिल भाषा साहित्य का वात्सल्य वर्णन अपने रूप को विशाल एवं सुदृढ़ बना सका है। पिल्लै का अर्थ है—'शिशु'। उन्होंने बालवर्णन के लिए 'पिल्लै-तमिल' नामक पद्धति को अपनाया है। अपने आराध्य लीला नायक श्रीकृष्ण के बाल्यकाल को 'काप्पु' चेंकीरे, ताल, चप्पाणी, मुत्तम, वाराणै, अंबुली, चिरुपिरै, चिट्रिल, चिदैत्त्ल, चिरुतेरोट्टल'(108) नामक वय:खंडों में विभाजित करके प्रत्येक दशा में होने वाली विशिष्ट बालचेष्टा से लेकर, सिर को ऊपर उठाकर हिलाना, माँ की लोरी सुनना, दोनों हाथों को मिलाकर ताली बजाना, दूसरो की प्रार्थना पर चुंबन के लिए अपने मुख छिपाना आदि शिशु की के पारखी है। इनकी वात्सल्य भक्ति रस के अन्तर्गत कृष्ण जन्मोत्सव के कोलाहल का वर्णन रूप सौन्दर्य अंगूठी में रखने की शोभा, आदि कोलाहल वर्णन में कवि ने तमिलनाडु में प्रचलित प्रादेशिक पद्धतियों का वर्णन किया है।

श्री कृष्ण जन्म का समाचार सुनकर ब्रज के आनन्द का एक दृश्य 'ओडुवार, विलुवार, उगंदु अलिप्प्न। (109) बालक के जन्म का समाचार सुनकर ब्रज में लोग अत्यानंद के साथ इधर-उधर दौड़ रहे थे। इधर-उधर एक दूसरे पर जल छिड़काते हुए कीचड़ में गिरते थे। एक दूसरे से परमानन्द के साथ गले लगाते थे। बच्चा किधर है, किधर है कहते हुए ढूँढते थे। नायक का जन्म ग्वालों के घर में हुआ था। उसकी महिमाओं को गाकर संतोष से बाजे बजाते थे। उसके अनुसार नर्तन करते थे। इस प्रकार गोकुल संतोष से भरा हुआ था।

"श्री कृष्ण के बाल रूप सौन्दर्य पर मुग्ध हर कवि बलि- बलि जाते हैं। उनके सम्पूर्ण अवयवों का वर्णन करते रहते हैं।"(110)

उँगलियों का वर्णन—हे दिव्य प्रकाश से पूर्ण ललाटवाली नारियाँ श्री कृष्ण के चरणारविंद की दस उँगलियों पर मोती, नीलमणि आदि नौरंगमणियों को लगाकर श्री कृष्ण के पैरों को सजाया गया है। *नारद भक्ति सूत्रों* में प्रेम से पूर्ण भावभक्ति को प्रमुखता दी गयी। उस प्रेमाभक्ति को आने के बाद मनुष्य ऐसा तृप्त हो जाता है उन्हें किसी की अपेक्षा ही नहीं होती।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।

ऐसी प्रेम से पूर्ण मधुर बहती को प्राप्त करके वह एकदम अपने पारलौकिक दुनियाँ में डूबा रहता है, स्तब्ध हो जाता है। उदाहरण के रूप में नारद गोपियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं–

यथा व्रजगोपिकानाम्।

आळवारों में बुजुर्ग आळवार पेरियालवार का कवि मन यशोदा के माध्यम से बालक श्री कृष्ण को प्यार से, लोरी सुनाते हुए कवि हृदय मन बोलता है—

माणिक्कम कट्टि वचिरम् इडै कट्टि।
आणि पोण्णाल् चेयद वण्ण चिरुतोट्टिल
पेणियुणक्कु पिरम्मन विडुतंदान
मणिक्कुरलणों तालेलो
वैयम् अलंदाने तालेलो।

निष्कर्ष

इस प्रकार भारतीय भक्ति साहित्य के विकास में दक्षिण भारत खासकर तमिल प्रदेश का पूरा योगदान रहा। तमिल भक्ति साहित्य एक आन्दोलनकारी साहित्य है। जिसमें सक्रिय रहे भक्तों के बीच जातिगत, वर्गगत भेदरहित भावना का विकास यह स्पष्ट करता है कि तमिल भक्ति साहित्य एक विशिष्ट साहित्यिक प्रकार को परवर्ती युग में पैदा करने की भावभूमि तैयार करके भक्ति को जन सुलभ बनाने के रास्ते को प्रशस्त किया।

हिन्दी विभागाध्यक्षा, अधिष्ठाता
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय
बान्दरसिन्दरी, किशनगढ़
अजमेर (राजस्थान)
दूरभाषा : 9680276038

काश्मीर शैव दर्शन में भक्ति एवं भावना

डॉ. प्रतिभा दीक्षित

सृष्टि के प्रारम्भ से ही जिज्ञासा मानव स्वभाव के मूल में रही है। सदैव से ही मानव सृष्टि, सृष्टि से परे इसके मूल कारण एवं स्वात्म को खोजने का प्रयास करता रहा है। इस जिज्ञासा के कारण ही ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग आदि विभिन्न मार्गों का विकास हुआ है। वस्तुत: सर्वथा पृथक् दिखाई पड़ने वाले ये विभिन्न मार्ग परस्पर अन्त:सम्बन्धित रूप से अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

ज्ञान, क्रिया एवं भावना—ये तीन मानव व्यक्तित्व के तीन महत्वपूर्ण आयाम हैं। ज्ञान पक्ष की प्रधानता होने पर जिज्ञासु साधक ज्ञानमार्ग की ओर प्रवृत्त होता है, क्रियापक्ष की प्रधानता होने पर योगमार्ग की ओर प्रवृत्त होता है तथा भावना की प्रधानता होने पर भक्तिमार्ग की ओर अग्रसर होता है। काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान, योग एवं भक्ति का अपूर्व सङ्गम हुआ है। यहाँ की पूर्णतावादी दृष्टि के अनुसार इनका पर्यवसान समावेश में होता है। इस अन्तिम लक्ष्य में जाकर तीनों मार्ग एक हो जाते हैं।

भारतीय दर्शन परम्परा के प्राय: सभी 'सम्प्रदाय' भक्ति को 'परमात्मा' तक पहुँचने का एक सुगम उपाय मानते हैं। यह सामान्य जन का मार्ग है जो सगुणविषयक उपासना से सम्बद्ध है। भक्ति की धारणा का प्रतिपादन विविध ग्रन्थों में भिन्न प्रकार से किया गया है। *शाण्डिल्यसूत्र* के अनुसार ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम ही भक्ति है।[1] *भागवतपुराण* में पुरुषोत्तम में अहैतुक (निर्हेतुक), निष्काम व निरन्तर प्रेम को ही भक्ति कहा गया है।[2] *शब्दकल्पद्रुम* के अनुसार पूज्य के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहा गया है।[3] *योगसूत्र* में सुखानुशायी राग को ही भक्ति कहा गया है।[4] कोशों में भक्ति शब्द की सेवा, अराधना, अनुराग विशेष, तदेकता प्रधानचित्तवृत्ति आदि अर्थों में भी व्याख्या की गई है।[5]

भक्ति शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है। 'भज धातु' विभेदात्मक अर्थ को प्रस्तुत करती है अत: भक्ति की धारणा में द्वैत का संस्पर्श सदैव रहता है। भक्ति की धारणा सदैव भक्त, भजन एवं

---

1. सा परानुरक्तिरीश्वरे। — *शाण्डिल्यसूत्र, 2*
2. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे। — *भागवतपुराण,* 3/29/12
3. *शब्दकल्पद्रुम,* भाग-3, पृ. 463-464
4. *योगसूत्र,* 2/7
5. *शब्दकल्पद्रुम,* भाग-3, पृ. 463-64, *वाचस्पत्यम्,* भाग-6, पृ. 4625-28

भजनीय को लेकर प्रस्तुत होती है। कतिपय स्थानों स्वरूपानुसन्धान एवं आत्मनिवेदन रूप में भी भक्ति का उल्लेख किया गया है।

काश्मीर शैव दर्शन भारतीय दार्शनिक परम्परा का एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण अद्वैतवादी दर्शन है, जो सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च की व्याख्या एक ही परम तत्त्व के रूप में करता है। इनके अनुसार वह परम तत्त्व एक पूर्ण तत्त्व है जिसमें समस्त भेद अंश रूप में समाहित रहते हैं अत: ऐक्य वास्तविक है एवं भेद आभास रूप। समस्त भेदरूप जागतिक प्रपञ्च एक ही प्रकाशतत्त्व का स्फार है। यहाँ भक्ति की धारणा का विकास भी इसकी निजी विशेषताओं एवं मान्यताओं के अनुरूप ही हुआ है। जहाँ सामान्यत: भक्ति भेद में अभेद स्वरूपा है वही काश्मीर शैव दर्शन में भक्ति अभेद में भेद स्वरूप है। भक्ति की अवधारणा में भेद एवं अभेद दोनों आवश्यक हैं। जहाँ भेद काल्पनिक है वहीं अभेद यथार्थ है। अत: भक्ति अपने यथार्थ रूप में इसी सम्प्रदाय में सिद्ध है।

रुद्र एवं शिव भक्ति की विस्तृत परम्परा यद्यपि निगम एवं आगम में प्रारम्भ से दिखाई पड़ती है, किन्तु कश्मीर शिवाद्वयवाद में शिवपरक भक्ति को दार्शनिक आधार देने का श्रेय आचार्य उत्पल को जाता है। आचार्य उत्पल एक शिवभक्त दार्शनिक थे जिन्होंने भक्तिपरक स्तोत्रों के अतिरिक्त दर्शन परम्परा में भी शिव भक्ति की धारणा का उल्लेख किया है। उनकी इस परम्परा को आगे जाकर अभिनवगुप्त, क्षेमराज व जयरथ विकसित एवं पुष्ट करते हैं।

शिवसूत्रों में भैरव समापत्ति हेतु जिस मार्ग को प्रस्तुत किया गया है वह ज्ञान, क्रिया व योग का अद्भुत सङ्गम है किन्तु इसके साथ ही शरीर वृत्तिरूप व्रत आदि धारणाओं में भक्ति का बीज दिखलाई पड़ता है। भैरव समापत्ति हेतु आवश्यक सतत चिदैकात्म्य की भावना ही वस्तुत: शिवाद्वयवादी भक्ति सिद्धान्त का स्रोत है। शिवदृष्टिकार सर्वत्र शिवतत्त्व की सत्ता के प्रसङ्ग में जिस 'भावना' का उल्लेख करते हैं वह दार्शनिक सन्दर्भों के मध्य भक्ति की अवधारणा का सूत्रपात है। सोमानन्द उसे 'भक्ति' का नाम न देकर 'भावना' रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यदि किसी प्रमाण से, शास्त्र से अथवा गुरुपदेश के द्वारा शिवतत्त्व की सर्वत्र विद्यमानता ज्ञात हो जाती है तथा ज्ञान होने पर वह विश्वास दृढ़ हो जाता है तो उसके पश्चात् न तो किसी करण की अपेक्षा होती है और न ही भावना की, फिर भी विचित्र कर्मों के लिए विविध उपायों का कथन किया जाता है।[6] इन उपायों में भावना का विशेष स्थान है। सर्वत्र शिव की सतत भावना से समस्त संसार शिव रूप ही प्रतीत होता है। मूल में समावेश की भावना के उदय से ही अन्तर्ज्ञान रूप भक्ति उत्पन्न होती है। फिर समस्त विश्व के प्रति ममत्व धारणा वाले मन का अत्यधिक प्रसार हो जाता है तब सार्वदेशिक,

6. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यत:।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्या दृढात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाऽपि वा।
तथापि चित्रकर्मार्थमुपायो वाच्य आदरात्।। — *शिवदृष्टि*, 7/5-9

सार्वकालिक निर्बाध ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[7] यहीं अद्वैत भक्ति की धारणा को स्थापित करने का अप्रत्यक्ष प्रयास किया गया है। यहाँ शिवाद्वयवादी अद्वैत भक्ति में पूज्य एवं पूजक का भेद समाप्त हो जाता है किन्तु फिर भी सर्वत्र शिवात्मकता के विनिश्चयन में ध्यान, भावना एवं आस्था के महत्त्व को बराबर स्वीकार किया गया है।[8]

आचार्य उत्पल '*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका*' के मङ्गलश्लोक में 'कथञ्चित्' शब्द से महेश्वरदास्यभाव की प्राप्ति में परमशिव के अनुग्रह को निमित्त मानकर सभी सम्भव उपायों को समान महत्त्व प्रदान करते हैं पर अन्ततः वे इस अनुग्रह से प्राप्त शिवैकात्म्य को गुरुत: एवं शास्त्रत:, स्वत: सभी प्रकार से दृढ़ीकृत करके उसकी सतत भावना को ही समावेश का मूल मानते हैं।[9] यह सतत भावना ही भक्ति है। अत: भक्ति की उत्कृष्टता सर्वोपरि है। *शिवस्त्रोतावली* नामक स्तुति ग्रन्थ में भी आचार्य उत्पल स्पष्टत: भक्ति को सभी उपायों में श्रेष्ठ मानते हैं।

अभिनवगुप्त भी अपनी *विमर्शिनी* टीका में इस 'कथञ्चित्' की व्याख्या परमेश्वर के मायीय कार्यकारण भाव के नियमों से शून्य स्वेच्छया अपभासित स्वात्मप्रकाशन के रूप में करते हैं। परमेश्वर जिस पर यह अनुग्रह करता है वही उसके शक्तिपात का अधिकारी होता है। उसमें ही शिवैकात्म्य भाव का उदय होता है और वह ही शिवाद्वयवादी भक्ति का अधिकारी बनता है। यहाँ भक्ति का प्रारम्भ समावेशात्मिका चित्तवृत्ति से होता है जो कि किसी सांसारिक निमित्त से न होकर परमेश्वर की इच्छा मात्र से होता है।[10] यहाँ नमस्कार से तात्पर्य शरीर, मन एवं वचन से तदैकात्म्य प्राप्ति की भावना से पूर्ण प्रह्वीभाव है।[11] यह प्रह्वीभाव ही भक्तिमार्ग का सार है। इस प्रह्वता की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त *विवृतिविमर्शिनी* में कहते हैं कि प्रह्वता भगवत्स्वरूप के उत्कर्ष के दर्शन से सिद्ध होती है। उस परमेश्वर की इच्छा से ही पृथक् शरीर, प्राणादि से

---

7. कार्यो मूल समावेश इति ज्ञात्वा तथोदय:।
... ... विज्ञानं सर्वदिक्कमबाधितम्।। — *शिवदृष्टि*, 7/56-58
8. (क) ध्यानं नामात्रं यत्सर्वं सर्वाकारेण लक्ष्यते।
भावनाचक्षुषा साध्वी सा चिन्ता सर्वदर्शिनी।। —*शिवदृष्टि*, 7/78
(ख) सर्वभावा: शिवाकारा अन्तर्भूता: शिवानले।
सोऽहं शिव: सुतृप्तोऽस्मि होम इत्युदित: पर:।। — *शिवदृष्टि*, 7/90-91
9. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन्सिद्ध्यति।। — *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका*, 4/1/16
10. यद्यपि आयातदृढेश्वरशक्तिपातस्य स्वयमेवेयमियती परमशिवभूमिरभ्येति हृदयगोचरम्, न तु अत्र स्वात्मीय: पुरुषकार: कोऽपि निर्वहति, सर्वस्य तस्य मायाभयत्वेनान्धतमसप्तख्यस्यामायीयं शुद्धप्रकाशं स्वप्रतिद्वन्द्विनं पति उपायतानुपमन्ते।
—*ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* (भास्करी), भाग-1, पृ. 20-21
11. इह परमेश्वरं प्रति या इयं कायवाङ्मनसां तदेकविषयतानियोजनालक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थ:।
— *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ. 18*

कल्पित प्रमातृ भावना के अभिमान के उद्रेक से ही न्यग्भाव होता है। फिर उसकी इच्छा से ही संवित् के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर समावेश की स्थिति होती है।[12] समावेश के बल से परमेश्वर के स्वात्मप्रकाशन से भ्रान्त अपारमार्थिक अभिमान की तुच्छता का बोध हो जाता है और तब उस आनन्द स्वरूप पूर्ण तत्त्व में सतत समावेश के प्राबल्य से शुद्धबोधमयी भक्ति का उदय होता है। इसी भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष है—दृक्क्रियात्मक परिपूर्णता का आस्वादन। यह मोक्ष की अवस्था सर्वथा नैर्मल्य की अवस्था है जिसमें तद्रूपता की स्थिति निरन्तर बनी रहती है।[13] उसके आस्वाद के लाभवश भक्त का मन सदैव उस आवेश के वश में रहता हे एवं जिसने इस आस्वाद को प्राप्त नहीं किया है उसमें स्थित श्रद्धा ही उसको इस आस्वादात्मक भक्ति की पात्रता देती है।[14] इस परमेश्वरदास्यभाव की प्राप्ति के अन्य निमित्त यथा आर्ति, जिज्ञासा, फलौत्सुक्य आदि भी सम्भव है परन्तु महेश्वर समावेशरूपा भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट है।[15]

अभिनवगुप्त *तन्त्रालोक* में भी दार्शनिक सन्दर्भों में भक्ति की सम्भावना पर स्पष्ट विवेचन करते हैं। ये अनुग्रह अथवा शक्तिपात के विवेचन क्रम में भक्ति का भी वर्णन करते हैं। इनके अनुसार परमेश्वर कहीं 'भक्तियोग' से, कही 'कर्म' से, कहीं 'विद्या' अर्थात् 'ज्ञान' से, कहीं 'ज्ञान-धर्म' के उपदेश से, कहीं 'मन्त्रों' से व कहीं 'दीक्षा' से इस प्रकार नाना प्रकार से संसारियों पर अनुग्रह करता है। यह नाना प्रकारता अनुग्राह्यों के वैचित्र्य पर ही निर्भर करती है।[16]

अनुग्रह अथवा शक्तिपात की दो स्थितियाँ हैं। प्रथम है 'पर शक्तिपात' जिसमें पराभक्ति का उदय होता है द्वितीय है 'अपर शक्तिपात' जिसमें अपराभक्ति होती है। अपर शक्तिपात से भी अन्ततः शिवैकात्म्य की प्राप्ति ही होती है।[17] वैसे तारतम्यवश इस शक्तिपात के नाना प्रकार हैं परन्तु भक्ति शक्तिपात के समस्त प्रकारों में समान रूप से प्रथम लक्षण के रूप में विद्यमान रहती है।[18] यह भक्ति ही पराकाष्ठा को प्राप्त कर मोक्ष कही

---

12. प्रह्वता च उक्तरूपा भगवत्स्वरूपोत्कर्षदर्शनेन तदिच्छावशाविशीर्णशरीरप्राणादिकल्पितप्रमातृभावनासंस्कारात्मक-शेषवृत्तिसम्भ्षे व्युत्थानसमयसम्भाव्यमानस्य शरीरादिगतप्रमातृताभिमानोद्रेकस्य अपासनेन मायाप्रमात्र-भिमानातिरेकन्यग्भावितसंविदात्मस्वरूपताया उन्मग्नतात्मक: समावेश:।
— *ईश्वरप्रत्यीभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी,* भाग-1, पृ. 7
13. सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपता तादात्म्यं मोक्ष एव। — *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ. 25-26*
14. तद्भावं तदास्वादलाभेन तदावेशवैवश्यं गतं मानसमेषामिति भक्ते: स्वरूपमुक्तम्। अलब्धतदास्वादस्यापि तु तत्र प्राप्तिग्रह: श्रद्धेति। तदाहु: — 'श्रद्धाफलं भक्तिरुकता तद्विना नासितुं घट:।'
ईश्वरप्रत्यीभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, पृ. 27
15. ऐश्वर्यमयी महेश्वरसमावेशरूपा या प्रकृष्टा भक्ति फलाङ्गिभावभागिभवानीवल्लभभक्त्यन्तरविलक्षणा विवक्षिता सा लक्ष्मीशब्देन सम्पत्पदेन च समस्तेत्यस्य दास्यविशेषणतासूचनेन निर्दिष्टा।
— *ईश्वरप्रत्यीभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी,* पृ. 28
16. *तन्त्रालोक*, 4/55-57
17. *तन्त्रालोक*, 13/255-56
18. देवीभिर्दीक्षितस्तेन सभक्ति: शिवशासने। — *तन्त्रालोक,* 13/142

जाती है।[19] इस भक्ति से ही परमसिद्धि की प्राप्ति होती है। इससे ही पूर्णरूपता का प्रकाशन एवं उसका निरन्तर ज्ञान होता रहता है।

इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन में भक्ति की महत्ता को स्वीकार करके उसमें अद्वैत का रंग भरा गया है। यहाँ भक्ति समावेशात्मक है अत: अद्वैतवादी सिद्धान्त का विरोध नहीं करती। यहाँ भक्ति साध्यरूप है। साधनरूप भक्ति को भी यद्यपि अस्वीकृत नहीं किया गया है, अपितु उसे अपर कोटि में रखा गया है। यहाँ भी भक्ति पूर्ण तत्त्व तक पहुँचने का एक प्रमुख आयाम है।

सी-604 नीलकण्ठ साउथ एण्ड होम्स,
ज्ञानविहार यूनिवर्सिटी के सामने,
जगतपुरा,
जयपुर-302025
दूरभाष 9929089585,
email : pratibhamudgal7@gmail.com

19. भक्तिरेव पराकाष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते। — *तन्त्रालोकविवेक,* भाग-5, पृ. 2337

काश्मीर शैव दर्शन : भक्ति का स्वरूप

कीर्तिका भट्टाचार्य

काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान, योग व भक्ति का अपूर्व सङ्गम प्राप्त होता है। यहाँ की पूर्णतावादी दृष्टि के अनुसार यह मान्यता सर्वथा उचित है क्योंकि लक्ष्य एक है मार्ग चाहे कोई हो। मानव व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं—(अ) ज्ञान, (आ) क्रिया तथा (इ) भावना। ज्ञानपक्ष की प्रधानता होने पर साधक ज्ञानमार्ग की ओर प्रवृत्त होता है, क्रियापक्ष की प्रधानता होने पर वह योगमार्ग की ओर अग्रसर होता है तथा भावपक्ष की प्रधानता होने पर भक्तिमार्ग की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। पर इन तीनों मार्गों का साध्य एक ही रहता है, जिसका काश्मीर शिवाद्वयवाद में या पर्यवसान समावेश में होता है। इस अन्तिम लक्ष्य में जाकर तीनों मार्ग एक हो जाते हैं।

भारत के प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में भक्ति उस परमात्मा तक पहुँचने का एक सुगम उपाय मानी गयी है। पहली बार *श्वेताश्वतर उपनिषद्* भक्ति शब्द का प्रयोग करता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।। — *श्वेताश्वतर उपनिषद्* 6/23

कुछ उपनिषदों में तो सगुणोपासना का विस्तार से विवेचन हुआ है। इस सगुणोपासना का मर्म है 'भक्तिसिद्धान्त'। प्राय: उपासना को 'सगुणविषयक उपासना' (सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापार: उपासनम्) रूप से ही समझा जाता है। *भागवतपुराण* में कहा गया है कि पुरुषोत्तम में अहैतुक (निर्हैतुक), निष्काम व निरन्तर प्रेम ही भक्ति है—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे। — *भागवतपुराण* 3/29/12

योगसूत्र में निर्बीज समाधि का सुगम उपाय ईश्वरप्रणिधान 1/2311 बताया गया है। ईश्वर की भक्ति अर्थात् शरणागति, उनका श्रवण, कीर्तन और मनन, उसी में अनन्य प्रेम करना ईश्वरप्रणिधान है। गीता में समस्त गुणों के स्रोत परमात्मा के प्रति सानुराग ध्यान को ही भक्ति कहा गया है। कोशों में भक्ति शब्द की सेवा, अराधना, अनुरागविशेष, तदेकताप्रधानचित्तवृत्ति आदि अर्थों में भी व्याख्या की गयी है। प्रभु से अतिरिक्त अन्य किसी की कामना न करना, स्वयं को उनसे एकाकार करना गीता का भक्तियोग का सार है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति शब्द भज् धातु से क्तिन प्रत्यय करके भज् सेवायाम् धातु से निष्पन्न किया गया है।

सेवा के मूल में भक्ति है, भक्ति के मूल में प्रेम है और प्रेम के मूल में करुणा और परमशिव परमकरुणा का स्रोत है। परमाद्वैत परमेश्वर परमदयालु है वह सभी से परमप्रेम करते हैं और इस प्रेम में ईश्वर की लोक सेवा का भाव निहित है, अत: भक्ति के मूल में भी शिव है। भक्ति भाव आत्मा का भाव है, आत्मा-परमात्मा का अंश अत: भक्ति भाव भी परमात्मा परमशिव का ही है। यह भक्ति शिव द्वारा शिव की उपासना है— **शिवस्यैव शिवोपास्ति:**।

भक्त सोचता है—मैं भगवान् को खोज रहा हूँ; सच यह है कि भगवान् स्वयं भक्त को खोज रहा है। इस जगत् में जो कोई स्वयं की खोज में है वह शिव को पायेगा और जो कोई शिव की खोज में है वह स्वयं को पायेगा क्योंकि सारा जगत् शिवमय है और शिव जगन्मय। व्यक्ति की दो ही गति सम्भव हैं एक कि वह जगत् में स्वय को खोज ले, दूसरा स्वयं जगत् में खो जाए। दोनों ही रूपों में शिव की प्राप्ति निश्चित है क्योंकि मैं शिवमय हूँ और शिव जगन्मय। निष्कर्ष तो यही है जो कोई स्वयं से प्रेम करता है वह यथार्थ में शिव से प्रेम करता है, शिवविषयक प्रेम ही भक्ति है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वीकृत परमेश्वर की कल्पना एक पूर्ण तत्त्व की कल्पना एक पूर्ण तत्त्व की कल्पना है जिसमें सारे भेद अंश रूप से समादृत हैं, अत: ऐक्य तो वास्तविक है और भेद आभास रूप। भक्ति की अवधारण द्वैत का संस्पर्श सदैव लिपटा हुआ रहा है। भक्ति की धारणा सदैव भक्त, भजन व भजनीय या उपासक, उपासना व उपास्य की त्रयी को लेकर प्रस्तुत होती है, परन्तु काश्मीर शैवदर्शन में भक्ति में भेद भी आवश्यक है व ऐक्य भी। भेद जहाँ कल्पित या अवास्तविक है वहीं ऐक्य यथार्थ है। अत: भक्ति अपने यथार्थ रूप में इसी सम्प्रदाय में सिद्ध होती है। जहाँ सामान्य भक्ति का स्वरूप भेद में अभेद है, वहीं काश्मीर शिवाद्वयवाद में भक्ति है अभेद में भेद। किसी भी साधना की समझ के लिए तीन उपाय हैं—गुरु, शास्त्र और स्वयं।

किरणायां तथोक्तं च गुरुत: शास्त्रत: स्वत:। — *तन्त्रालोक*, 13, 162

जिससे दिशा, मन्त्र-शास्त्र तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, वह गुरु है। गुरु स्वयं शिव है, जो अपनी अनुग्राहिका शक्ति से शिष्य को दीक्षा प्रदान करते हैं।

यस्माद्दीक्षा मन्त्रशास्त्र तत्त्वज्ञानं स वै गुरु:। — *तन्त्रालोक*, 15, 591

लौकिक गुरुओं में उसे उत्तम कहा गया है जो पद वाक्य प्रमाणज्ञ हो, समस्त शास्त्रार्थ का वेत्ता हो, शिवभक्ति में तत्पर हो और जिसमें करुणा का भाव हो। (*तन्त्रालोक*, 23, 6-7) दीक्षा के दो धर्म हैं दान और क्षपण। ज्ञान का देना (दीयते) और पशुभावना का क्षय (क्षा) दीक्षा कहलाती है—

दीयते ज्ञानसद्भाव: क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्त दीक्षा तेनेह कीर्तिता।। — *तन्त्रालोक*, 1, 43 पर विवेक

शिष्य को शिवत्व की प्राप्ति कराना दीक्षा का प्रयोजन है। दीक्षा एक प्रकार आत्मसंस्कार है अर्थात् मल का ध्वंस। दीक्षा किसी विधि का प्रारम्भ भर नहीं है अपितु उसके द्वारा शिष्य को पार लगाना है। **शैवं धामं नयत्स्यति।**

जो स्वयं साधक है वह स्वयं शिव ही है परन्तु साधन (भक्ति) द्वारा परमविशिष्ट स्वरूप षडध्वा को शुद्ध करना शेष रहता है। दिक्काल के अनन्त भेदों का किंवा समस्त विश्व के सृष्टि संहार का देह प्राणादि के माध्यम द्वारा शोधन करने से मनोलय होकर साधक महोदय (शिव) हो जाता है। साधना की भावना, गुरु की प्राप्ति, दीक्षा, साधना विशेष में प्रवेश तथा सिद्धि शिव की अनुग्रह स्वरूपा शक्ति का प्रताप है। अधिकारी की रुचि, व्युत्पत्ति, फलाकाङ्क्षा आदि का भी वही हेतु है। इसे शक्तिपात कहते हैं। आध्यात्मिका साधना इसी से प्रवर्तित होती है। यही भक्ति और आन्तर विवेक को जगाती है और भुक्ति-मुक्ति की सिद्धि के लिए गुरु के पास ले जाती है। इस शक्तिपात, शिव के अनुग्रह या करुणा भाव का कोई निमित्त या हेतु नहीं है, यह अहैतुक और निरपेक्ष है क्योंकि यही शिव के स्वातन्त्र्य को व्यक्त करता है—

> **स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शक्तेः पातयिता इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः।** — *तन्त्रसार*, पृ. 122

सभी पर अनुग्रह करना परमात्मा का स्वभाव है उसका प्रभाव अचिन्त्य है अतः वह तत्त्वविवेक, दीक्षा, योग, श्राद्धादिरूप चर्या में से किसी भी उपाय से जीव का उद्धार कर देता है और ये सब भी बाह्य लक्षण हैं। मुक्ति का मुख्य कारण भक्ति है, यह शक्तिपातलक्षणा अनुध्या (जयरथ) है अर्थात् यह ऐसा अनुसन्धान है जिससे भगवान् की अहैतुकी कृपा या शक्तिपात का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। जैसे ज्यादा या कम विष खा लेना या व्याधि आदि मृत्यु का वास्तविक कारण नहीं है, अपितु भोग का क्षय मुख्य है, उसी प्रकार मुक्ति का हेतु दीक्षा आदि उपाय नहीं है अपितु शिव का शक्तिपात है, शिव की शक्ति की अभिव्यक्ति है और यह मुख्यतः भक्ति है। भक्ति का विषय परमेश्वरस्वरूप स्वात्मा है। कोई अन्य देवता नहीं (**परमेश्वरस्वरूपस्वात्मविषया न त्वन्यदेवताविषया**)। अभिनवगुप्त अपनी *विमर्शिनी* टीका में इस 'कथञ्चित्' की व्याख्या परमेश्वर के मायीय कार्यकारण भाव के नियमों से शून्य स्वेच्छावभासिक स्वात्मप्रथन रूप से करते हैं। इसे ही यहाँ की दार्शनिक शब्दावली में 'अनुग्रह' रूप कृत्य कहा गया है। अतः बिना किसी लोकदृष्ट नियमबद्ध कारणता के परमेश्वर स्वेच्छा मात्र से जिस किसी पर भी अनुग्रह करता है वही उसके शक्तिपात का अधिकारी होता है। फलतः उसमें शिवैकात्म्यबुद्धि का उदय होता है और वह शिवाद्वयवादी भक्ति का अधिकारी बनता है। इस शक्तिपात का सूचक चिह्न ही है वह भक्ति भाव। शिवाद्वयवाद में भक्ति प्रारम्भ होती है उस समावेशात्मिका चित्तवृत्ति से,जिसका उदय किसी सांसारिक निमित्त से न होकर परमेश्वर की इच्छा मात्र से होता है पर अब उसके समस्त भक्ति प्रवण व्यापार इसी समावेश बुद्धि से आपूरित रहते हैं। यहाँ नमस्कार का अभिप्राय है शरीर, मन व वचन से तदैकात्म्य प्राप्ति की भावना से पूर्ण प्रह्वीभाव। उस भक्ति

का फल है 'दास्य' भाव जिसको अभिनवगुप्त सामान्य अभिप्राय से भिन्नतया 'परमेश्वररूप स्वातन्त्र्य की पात्रता' रूप से व्याख्यात करते हैं। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिनी* में वे इस 'महेश्वरस्य दास्यं' शब्द को और स्पष्ट करते हुए 'महेश्वरप्रत्यभिज्ञानप्राणितभक्तत्व' रूप से प्रस्तुत करते हैं। इस परमेश्वरता का लाभ होने पर सारी सम्पत्तियाँ उसे स्वत: प्राप्त हो जाती हैं। निष्कर्षत: काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रतिपादित भक्ति अनिवार्यत: समावेशात्मक है, फलत: अद्वैत के सिद्धान्त के विरुद्ध में कहीं नहीं जाती। शिव के शक्तिपात से साधक को जिस एकात्मता का बोध प्रारम्भ होता है, उसकी प्रकृष्टतम अभिव्यक्ति भक्ति के पार्यन्तिक रूप में जाकर होती है जिसे इस सम्प्रदाय की शब्दावली में 'चिदानन्दलाभ' कहा गया है।

शोधछात्रा,
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।
आवास—जगत्शिरोमणिमन्दिर रोड
आमेर, जयपुर-302028
दूरभाष : 8949546426

भक्तियोग की साधना एवं वैशिष्ट्य

डॉ. नीलम

भक्तियोग परमतत्व परमेश्वर की साक्षात् अनुभूति का सहज, सरल, सर्वसुलभ एवं श्रेष्ठ मार्ग है। भक्ति के द्वारा आत्मा का परमतत्व परमात्मा से संयोग ही भक्तियोग कहलाता है। समर्पितभाव से ईश्वरीय उपासना को भक्ति की संज्ञा दी गई है। यह परमात्मा के प्रति अतिशय प्रेम, अटूट श्रद्धा, आस्था एवं पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव है। देवर्षि नारद ने नारदीय भक्तिसूत्र में भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—'**सा तु अस्मिन् परमप्रेमरूपा**' अर्थात् परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। देवर्षि नारद ने भक्ति को कर्म, ज्ञान एवं योग से भी श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि इन सबका का कोई न कोई साध्य है, किन्तु भक्ति स्वयं ही साध्य और साधन स्वरूप है। प्रेम शब्द बहुत छोटा है, किन्तु इसका प्रभाव इतना व्यापक है कि उसमें जीवन का समग्र अर्थ निहित है। यही वह मूल भाव है, जो समस्त प्राणी जगत् की अभिप्रेरणा का मूल आधार है। यही सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। इस प्रेम के माध्यम से ही जागतिक प्राणी समुदाय परस्पर जुड़ाव अनुभव करता है। प्रेम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष जीवात्मा को अपने मूल स्रोत परमात्मा की साक्षात् अनुभूति प्रदान करना है। अन्य समस्त सांसारिक प्रेम क्षुधा-तृष्णा जनित, हर्ष-विषादमय एवं नश्वर होने के कारण दुःख स्वरूप है। हृदय के अन्तरतम प्रेम का शाश्वत आधार केवल परमात्मा है। केवल प्रेमस्वरूप परमेश्वर के प्रति प्रेम ही अतोषणीय क्षुधा एवं तृष्णा को सर्वथा समाप्त कर सकता है, क्योंकि परमात्मा ही शाश्वत प्रेम का मूल स्रोत है।

भक्तियोग की साधना में प्रेम प्रमुख साधन है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार– "वस्तुतः भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। यह हमें प्रेम की दिशा को निर्दिष्ट करना और उसको संयमित करना सिखाता है। यह हमें इसको प्रयोग करने की, इसको नया उद्देश्य देने की शिक्षा देता है। यह हमें यही सिखाता है। कि प्रेम से हम सर्वोच्च और अत्यन्त श्रेयस्कर पद कैसे प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् किस प्रकार यह हमें अध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति की ओर प्रवृत्त कर सकता है। भक्तियोग यह नहीं कहता कि त्याग दो वह केवल इतना कहता है—प्रेम, सर्वोच्च से प्रेम करो और फिर जो कुछ भी निम्न है उस व्यक्ति की दृष्टि से दूर हो जाता है, जिसके प्रेम का उद्देश्य सर्वोच्च पात्र को प्राप्त करना है।"

भक्तियोग में प्रेमभाव की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति होती है। प्रेमभाव को परमात्मा की ओर उन्मुख कर हम जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की अनुभति कर सकते है। जागतिक विषयों के समान ही परमेश्वर के प्रति प्रबल प्रेम का आकर्षण होने पर उसकी अनुभूति हो सकती है। सुपरिचित जन्मजात मनोवृति प्रेम का लक्ष्य नश्वर जागतिक विषयों के स्थान पर शाश्वत ईश्वर को बनाना है। भगवान् के लिये अनन्य प्रगाढ प्रेम को पराभक्ति कहते हैं, परन्तु यह पराभक्ति एक दिन में ही प्राप्त नहीं हो सकती। यह साधन सापेक्ष है। भक्त को प्रारम्भिक अवस्था में कुछ साधनाएँ करनी पड़ती हैं, जिसे गौणी भक्ति कहते हैं। निष्ठापूर्वक आत्मसमर्पण एवं साधना के परिणामस्वरूप गौणी भक्ति ही पराभक्ति में परिवर्तित हो जाती है। प्रेममय ईश्वर का निरन्तर चिन्तन ही भक्तियोग की साधना है। केवल इस प्रकार के सतत चिन्तन के प्रभाव से ही मन क्रमशः निर्मल, प्रफुल्ल एवं तेजस्वी हो जाता है। इसके प्रभाव से साधक पराभक्ति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर होते हुए अनन्तः मुक्तिलाभ करता है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"जो मनुष्य अपने समस्त कर्मों को मुझमें अर्पित करके, मेरे परायण होकर, अनन्य योग के द्वारा मेरी उपासना और ध्यान करते हैं, मैं शीघ्र ही मुझमें अर्पित चित्तवाले उन सभी भक्तों का जन्म-मृत्यु रूपी संसार से उद्धार कर देता हूँ।"

भक्तियोग में ईश्वर भक्त के योगक्षेम का प्रमुख आधार होता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"जो निष्ठापूर्वक मेरा चिन्तन करता है, मेरी पूजा करता है, किसी अन्य वस्तु में मन को न लगाकर अनन्यभाव से मेरा ही ध्यान करता है, उसके योगक्षेम को मैं वहन करता हूँ।"

किन्तु क्या भक्त केवल इसलिए भक्ति करता है कि ईश्वर उसकी रक्षा करेंगे? नहीं, ईश्वरनिष्ठ भक्त कभी किसी प्रकार की कोई, अपेक्षा नहीं करता। भक्त ईश्वर को प्रेममय भावों को देता है और किसी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं करता।" स्वामी विवेकानन्द *भक्तियोग* में कहते हैं कि—"यदि भक्ति में किसी प्रकार के प्रतिदान की अपेक्षा है, तो वह व्यापारमात्र है।" भक्त का ईश्वर के प्रति निःस्वार्थ प्रेममय आत्मसर्मपण होता है, वह इसके प्रतिदान में कोई अपेक्षा नहीं करता। यश-अपयश, सुख-दुःख, मान-अपमान, जन्म-मरण ये समस्त द्वन्द्व भक्त के लिए ईश्वरीय सन्देश के रूप में समान रूप में ग्रहण होते हैं। जब भक्त इन द्वन्द्वों को स्वीकार्य या अस्वीकार्य रूप में न देखकर भगवान् के प्रेम के प्रतीक के रूप में देखता है, तभी भक्ति के वास्तविक स्वरूप का आस्वादन करता है। भगवान् की कृपा का प्रमाण किसी शुभ अथवा अशुभ घटना में नहीं अपितु ईश्वर प्रदत्त आत्मा की वह शक्ति है, जिसके द्वारा किसी भी वस्तु को आनन्द और समर्पण की आत्मा भावना से स्वीकार किया जाता है। यह क्या प्राप्त किया गया है इस पर नहीं, अपितु उसे किस भाव से ग्रहण किया जाता

है, इस पर निर्भर करता है। इस प्रकार ईश्वर की कृपा केवल उस समय ही नहीं होती जब विष अमृत में परिवर्तित हो जाता है, अपितु उस समय भी होती है, जब विष प्रभावशाली होता है। मीरा ने विष इसलिए नही पिया क्योंकि उसे यह ज्ञात था कि विष अमृत हो जाएगा, अपितु इसलिए पिया की जो कुछ भी भेजा गया था, वह उसके प्रियतम ने भेजा था। कृपा की महत्ता ईश्वर प्रदत्त इस सामर्थ्य में है कि सब कुछ भगवान् द्वारा प्राप्त हुआ मानकर तत्परता से स्वीकार किया जाये।

भक्ति की दृष्टि में परिणाम की अपेक्षा भक्त के समर्पित भाव की अधिक महत्ता है। भक्तियोग सबके लिए है। प्रत्येक मनुष्य इस मार्ग का अभ्यास कर सकता है। दुष्ट से दुष्ट मनुष्य भी इस पथ पर अग्रसर होकर धीरे-धीरे स्वयं को आत्मोन्नत कर सकता है। भक्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि यह न केवल प्रेमी को पवित्र करता है, अपितु प्रेमास्पद के बारे में उसकी धारणा में परिवर्तन लाता है। यह पवित्रीकरण या रूपान्तरण क्रमशः निम्नतम सोपान से उच्चतम सोपान की ओर प्रवाहित होता है—यह भक्तियोग का वैशिष्ट्य है।

व्याख्याता
दर्शनशास्त्र
से.मु.मा. कन्या महाविद्यालय,
भीलवाडा (राज.)
दूरभाष : 9649075708

भक्तिरसविमर्शः

फिरोजः

भज्धातोः क्तिन्प्रत्ययेन निष्पन्नस्य भक्तिशब्दस्य अर्थः—भजनं, भागः सेवा च भवन्ति। भक्तिः अनुरागविशेषो वर्तते। भगवतः लीलायाः, गुणानां रूपादीनाञ्च दर्शनं कथनं साक्षात्कारः भजनं रसनं रसास्वाद एवापूर्वो वर्तते। भक्तेः स्वरूपं प्रतिपादनाय *शाण्डिल्यभक्तिसूत्रे* उक्तम्—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।[1]

अर्थात् सर्वविधानि प्रेमाणि क्षीयमाणानि सन्ति किन्तु परमेश्वरं प्रति सदा प्रवाहमानं प्रेम अक्षुण्णं भवति। सामान्यं प्रेम अपेक्षां दर्शयति। किन्तु ईश्वरे प्रेम यदा अपेक्षां नापेक्षते तदा तत् परमप्रेमरूपं भवति।

भक्तिरसत्वं कथं याति इति विचारणीयो वर्तते। वैष्णवाचार्याणां मते भक्तिः रसविशेषो वर्तते। भक्तिरसः ब्रह्मानन्दस्य आत्मानन्दस्य वा वाचको वर्तते।[2]

यद्यपि भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे भक्त्याः रसत्वं न प्रतिपादितं तथापि उत्तरस्मिन् काले तस्याः रसत्वमङ्गीकृतमाचार्यैः। लब्धसामग्रीप्रामाण्याद्रसविषयकचिन्तनपरम्परायाः प्रवर्तनं भरतमुनित एव मन्यते। परमतत्त्वपुरुषोत्तमगतायाः पूर्णाया रसानुभूतेः सर्वैर्दुष्करत्वात् भरतादिभिराचार्यैः न निःश्रेयसाप्तौ समर्थानां श्रवणादिसाधनानां विचारः प्रस्तुतः, न वा निखिलानर्थनिदानभूतस्याज्ञानस्योन्मूलेन प्रयासो विहितः। भरतमुनिना हि महता परिश्रमेण दिव्यज्ञानमन्तरेण आगमसिन्धोर्मन्थनं विधाय पीयूषवपुषो यस्य नाट्यशास्त्रस्य प्रणयनं कृतवान्, तस्य लक्ष्यं जीवगतानन्दांशस्यास्वादनमात्रमेवास्ते, न तु पूर्णब्रह्मानन्दानुभूतिरपि तस्यास्ति लक्ष्यभूता।

भक्तिः रसो भावो वा इति प्रश्नः काव्यज्ञानां पुरतः समायाति। कैश्चित् बलादेव भक्तिः रसत्वेन स्वीक्रियते। अन्ये परम्परानुमोदितानां रसानां तुलनायां भक्तिः श्रेष्ठ इति स्वीकुर्वन्ति। अपरे चेष्टां कुर्वन्ति शान्तभक्तिरसयोः अभेदं स्थापयितुम्। अन्याः च भक्तिं अन्यरसेभ्यः भिन्नः सर्वथा अलौकिकः इति स्वीकुर्वन्ति यस्मिन् शेषरसानां समोवेशो भवति।

नाट्यशास्त्रस्य टीकाकारः अभिनवगुप्तः भरतमुनेः रससूत्रस्य व्याख्यां कुर्वन् शान्तरसं नवमो रसः सिद्धः, किन्तु नवरसानातिरिच्य अन्यस्य कस्यचिदपि रसस्य स्वतन्त्रस्थितिं न स्वीकृतवान्। समेषां नवरसेषु एव अन्तर्भावः कृतः। 'एवं भक्तावपि वाच्यम्' इति विलिख्य भक्तेः अन्तर्भावः नवरसेषु एव विहितः। भक्तेः तेन निषेधः अपि कृतः। यथा—

"अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धास्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवागमिति न तयोः पृथक् रसत्वेन गणनम्।[3]

षोडशताब्द्यां बङ्गप्रदेशस्य आचार्यैः रससिद्धान्तोपस्थापितः। तत्र रूपगोस्वामिना काव्यशास्त्रे ग्रन्थत्रयं प्रणीतम्—

1. *नाटकचन्द्रिका*
2. *भक्तिरसामृतसिन्धुः*
3. *उज्जवलनीलमणिः*

एतेषु अन्तिमौ द्वौ ग्रन्थौ वैष्णवानां रसकल्पनाया आधारभूतौ स्तः। '*हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः*' इति अनुसारं भक्तिरस एव परमरसो वर्तते शृङ्गारादयः काव्यरसाः वा तस्य विकारमात्रमेव सन्ति। अस्य रसस्य स्थायीभावो वर्तते- देवविषयकरतिः। अत्र ईश्वरं प्रति अनुरागः वर्ण्यते।

भक्तिरसाचार्यैस्तु पुष्कलानन्दरसास्वादस्तु तदैवोद्भविष्यति यदा परमानन्दस्वरूपो भगवान् स्वयमेव मनोगतो भवेत्। यथोक्तम्—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्।।

अपि च भक्त्या भक्तस्य चित्तं विभुं पूर्णबोधं सुखात्मकं परमात्मनं नितरां समाश्लिष्यति तदा किमप्यन्यत् कर्त्तव्यं नावशिष्यते। अर्थात् सर्वदेशव्यापकस्य नित्यसुखस्वरूपस्य सर्वतः परिपूर्णस्य परमेश्वरस्य द्रवीभूतेन चेतसा ग्रहणे कृतकृत्यतया न किञ्चिदवशिष्यते। अत एवोक्तं ब्रह्मणा *श्रीमद्भागवते* भगवन्तं कृष्णं प्रति—

पूरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धा।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्।।[4]

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमिदमवशिष्यते।।

यथा बिम्बस्थानीयं मुखमेव दर्पणाद्युपाधिसम्बन्धात् प्रतिबिम्बरूपं धत्ते, तथैवेश्वरो देहोपाधिसंयोगात् जीवरूपं गृह्णाति। अत एव जीव ईश्वरवत् पूर्णरसरूपः, तयोर्भेदो नास्ति। दृश्यदर्शकयोरभेदानुभव एव रसस्य परमं प्रयोजनम्। कान्तादिलौकिकविषयेष्वपि रसप्रतीतिकानां सुखस्वरूपं चैतन्यधनमेवास्ति किन्तु मायाया

आवरणशक्त्या आवृतत्वान्न तत्प्रतीयते। विशुद्धं भगवत्तत्वम्। अतो द्रवीभूतचित्तवृत्तावाविर्भूतश्चिदानन्द एव रसत्वं प्रतिपद्यते।

भक्तिसम्प्रदाये पञ्च मुख्याः सप्त च गौणा इति गौणमुख्यभेदात् भक्तिरसः द्वादशविधः स्वीक्रियते। भक्तेः सप्त साहित्ये तथैव स्वतन्त्ररूपेण अङ्गीकृता यथा शिष्टौ शान्तशृङ्गाररसौ भक्तिशास्त्रे शान्तमधुरभक्तिभेदेऽन्तर्गतौ कृतौ। तत्र मुख्यभक्तौ शान्तस्य नाम गृहीतम्। किन्तु शृङ्गारस्य न तथा ग्रहणमस्ति। वस्तुतो मधुरभक्तिरेव साहित्यशास्त्रस्य शृङ्गाररसः।

1. मुख्यो भक्तिरसः
   - शान्तरसः
   - प्रीतरसः
   - प्रेयानरसः
   - वात्सल्यरसः
   - मधुररसः

2. गौणो भक्तिरसः-
   - हास्यरसः
   - अद्भुतरसः
   - वीररसः
   - करुणरसः
   - रौद्ररसः
   - भयानकरसः
   - वीभत्सररसः

रूपगोस्वामिना *भक्तिरसामृतसिन्धौ* रसस्य लक्षणमित्थम् उक्तम्—

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेत विराजेत स स्थायीभाव रस उच्यते।।[5]

भक्तिशास्त्रे श्रीकृष्णविषयकरतिरेव स्थायीभावः स्वीकृतोऽस्ति। सा द्विधा- मुख्यरतिः गौणरतिश्चेति। गोस्वामिना स्थायिभावस्य स्वरूपं तु तदेव स्वीकृतं यत् साहित्यशास्त्रे स्वीकृतं वर्तते। किन्तु तद्वर्गीकरणव्यवहारे भिन्नप्रकारेणोपस्थितः।

श्रीकृष्णविषयकरतेर्गौणमुख्यस्थायिभावस्य वर्गीकरणं तेन स्वकीयया शैल्या समुपस्थापितम्।

भट्टलोल्लटप्रभृत्याचार्यैः प्रदर्शितरसनिष्पत्तिप्रकाराद् भिन्नो भक्तिरसनिष्पत्तिप्रकारः। भक्तिरसदृष्ट्या न रसोत्पत्तिरनुकार्ये भवति, नापि नटेऽनुमीयते।, प्रत्युत तत्र भक्तस्य भाव एव आस्वादगोचरो भूत्वा रसरूपतां प्रतिपद्यते।

नाट्येऽनुकार्यगतभावस्य नटे आरोपसम्भवेऽपि भक्तिक्षेत्रियरसानुभूतौ कर्तृत्वं श्रवणकीर्तनादावैवाधारित-मस्ति। अत एव भट्टनायकस्यापि भावकत्वभोजकत्वरूपयोः व्यापारयोः नवीनकल्पनाऽपि न कृतकार्या भवति। यत्रैकया विभावादीनां साधारणीकरणं क्रियते, द्वितीयया च सत्त्वोद्रेकाज्जायमानानन्दात्मिकां संविद्विश्रान्तिं संसाध्य रसस्यानुभावः क्रियते। न वा व्यञ्जनावादिनोऽभिनवगुप्तस्य प्रमातृगतसहजातमनोभावस्य आस्वादनादेव निर्वाहो भवितुमर्हति। यतो हि अन्यपात्रगतभास्य प्रधानपात्रगतभावे विलयस्य सिद्धान्तो न भक्तिसिद्धान्ते मान्यतामर्हति। चतुर्षु एतेषु मतेषु आत्मस्वरूपस्य रसस्य नित्यता न सिद्ध्यति।

अतो भावत्रयीसमूहालम्बनज्ञानानन्तरं जायमाना व्यवधानरहिता प्रतीतिरेव भक्तिरसः। अत एव *भक्तिरसायनोऽयं* सर्वमान्यः सिद्धान्तः समुद्घोषितः श्रीपतिवर्यमधुसूदनसरस्वतीपादैः।

सानन्तरक्षेणऽवश्यं व्यनक्ति सुखमुत्तरम्।
तद्रसः केचिदाचार्यास्तामेव तु रसं विदुः।।[6]

अपि च—

नित्यं सुखमभिव्यक्तं रसो वै स इति श्रुतेः।
प्रतीतिः स्वप्रकाशनस्य निर्विकल्पसुखात्मिका।।[7]

भक्तिरसे भावस्याश्रयो भक्त एव भवति, न नाट्यगतपात्रं यथा लौकिके रसे जायते। लौकिके रसे शृङ्गाररसस्याश्रयो भवति। नलदुष्यन्तादि आलम्बवविभास्य च दमयन्तीशकुन्तलादिः, किन्तु भक्तिरसक्षेत्रे राधाकृष्णयोरपि विवेचनमालम्बनप्रकरणे एव कृतं वर्तते। अत एव भक्तिरसानुयायिभिराचार्यैः रसानुभूतिरभिनवा प्रक्रिया कल्पिता।

एवं वक्तुं शक्यते—

भक्तिर्नाम सुधास्तु लोकविदिता स्वाभाविकानन्ददा,
विष्णोः प्रीतिकरी जगद्धितकरी लोकोत्तरा शान्तिदा।
पीत्वा सौख्यमयीमिमां बुधजनाः सम्पादयद्वं निजं
मोक्षं लोकसुखं यशश्च विमलं लोके सुखेनाचिरात्।।

सा भक्तिः सर्वं साधयति। तथा चोक्तम्—

अन्तः प्रसादयति शोधयतीन्द्रियाणि,
मोक्षं च तुच्छयति किं पुनरर्थकामौ।
सद्यः कृतार्थयति सन्निहितेव जीवा-
नानन्दसिन्धुविवरेषु निमज्जयन्ती।।[8]

इत्थं मया शोधपत्रेणानेन भक्तिरसविमर्शः प्रस्तुतः।

सन्दर्भाः

1. *शाण्डिल्यभक्तिसूत्राणि*-2
2. डा. नगेन्द्र, *रससिद्धान्त*, पृ-3
3. *अभिनवभारती*
4. *श्रीमद्भागवतपुराणम्*-10.14.5
5. *भक्तिरसामृतसिन्धुः*
6. *भक्तिरसामृतसिन्धुः*, 3.13
7. *भक्तिरसामृतसिन्धुः*, 3.22
8. *चैतन्यचन्द्रोदयनाटके*, पृ.50

सहायकाचार्यः (अ), साहित्यविभागः,
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जयपुरपरिसरः,
जयपुरम्-302018, राजस्थानम्
चलवाणी- 9001407628
अणुवाक्- firoze.firoze2301@gmail.com

वैष्णवागम में रुद्रयाग

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

विषाशनाय विहरद् वृषस्कन्धमुपेयुषे।।
सरिद्दामसमाबद्धकपर्दाय नमो नमः।।
शुद्धाय शुद्धभावाय शुद्धनामान्तरात्मने।
पुरान्तकाय पूर्णाय पुण्यनाम्ने नमो नमः।।
भक्ताय निजभक्तानां भुक्तिमुक्तिप्रदायिने।।
विवाससे विवासाय विश्वेशाय नमो नमः।।

भारतीय संस्कृति और साधना ने आज समस्त विश्व को आकृष्ट किया है तथा विज्ञान के नवीनतम अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय ऋषियों द्वारा निदर्शित-प्रवर्तित विचार सरिणी ही वर्तमान अभिशप्तदाहक अपसंस्कृति से बचने के लिए एक मात्र अभेद्य कवच है। **सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा** से सम्पन्न यह संस्कृति पुरातन काल से ही समूचे विश्व को, मानवता का मार्गदर्शन किया तथा नाना देशों के निवासियों को पवित्र, सार्थक तथा मंगलमयी जीवनपद्धति बतायी। भगवान् व्यास का उद्घोष है— **श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः**[1] अर्थात् श्रुतियों का प्रमाण तथा आगमों के अनुष्ठान से व्यक्ति जरामृत्यु से रहित हो जाता है। श्रुति का ही अपर नाम निगम अथवा वेद है। आगम ही तात्पर्यभेद से तन्त्र कहलाते हैं। बौद्धादि आगमों के अतिरिक्त प्रायः सभी आगम श्रुतिमूलक होने से वेदार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं और वेद के उपबृंहणरूप हैं। 'आगम' शब्द की संयोजना के विषय में जो अतिप्रसिद्ध श्लोक है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।। — *रुद्रयामलतन्त्र, शाक्तानन्दतरंगिणी।*

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् वासुदेव के सिद्धान्त किं वा अभिमत के वक्ता भगवान् शिव हैं। और श्रोता भगवती पार्वती हैं। आगतं पद का 'आ' गतं पद का 'ग' और 'मतं' पद का 'म'—इन तीन अक्षरों के संयोग से 'आगम' शब्द बना है। इस दृष्टि से आगम के मुख्यतः तीन भेद हैं—

(1) शैवागम,
(2) शाक्तागम,
(3) वैष्णवागम।

शैवागम

इस परम्परा में भगवान् सदाशिव की ही प्राधान्येन आराधना-उपासना होती है। भगवान् शिव से। सम्बद्ध होने के कारण ही ये आगम शैवागम कहलाते है। शैवागम मुख्यतः—1. भेद प्रतिपादक, 2. भेदाभेद प्रतिपादक तथा 3. अभेद प्रतिपादक—इस प्रकार से तीन रूपों में प्रविभक्त हैं, इन्हें क्रमशः शिव, रुद्र तथा भैरव के नाम से पुकारा जाता है—

तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजम्भृते।।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदगामिना। [2]

शाक्तागम

भगवती आदिशक्ति जगज्जननी के आराधना विषयक आगम शाक्तागम कहलाते है। शाक्त तन्त्रों की संख्या चौसठ मानी गयी है—

चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं। [3]
चतुःषष्टि च तन्त्राणि मातृणामुत्तमानि च। [4]
चतुःषष्टिश्च तन्त्राणि मातृणामुत्तमानि तु। — *नित्याषोडशिकार्णव*

कही-कहीं विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता तथा अश्वक्रान्ता—इन नामों से पृथक्-पृथक् चौसठ भेद किये गये हैं। इस प्रकार शाक्तागमों का ही अत्यधिक विस्तार है।

वैष्णवागम

जिन आगमों में एकमात्र भगवान् विष्णु सशक्तिक ही परम आराधनीय, वन्दनीय, पूजनीय, सेवनीय, भजनीय, कीर्तनीय तथा शरण ग्रहण करने योग्य निरूपित किये गये हैं वे आगम वैष्णवागम के नाम से प्रसिद्ध हैं। वैष्णवागम के प्रमुखरूप से दो भेद हैं—

1. वैखानस आगम—वैष्णवागम की प्रथम धारा वैखानस आगम के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी आचार संहिता पाञ्चरात्र आगम के समानान्तर होने पर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से किञ्चित् भिन्न है। इसमें लक्ष्मी विशिष्ट नारायण की उपासना होती है। इसलिये इनका अभिमत 'लक्ष्मीविशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

वैखानस शब्द का अर्थ

वैखानस शब्द विखनस् अथवा विखना से बना है। इसका तात्पर्य है कि यह विखनस् अथवा विखना से सम्बद्ध। इस प्रकार वैखानस शब्द संज्ञा होने पर भी विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—वैखानस आगम, वैखानस दर्शन, वैखानस उपासना, वैखानस दिव्यदेश तथा वैखानस समाज आदि।

2. पाञ्चरात्र आगम—पाञ्चरात्रागम के अनुयायी साधक-भक्त सात्वत, भागवत, एकान्तिन, ऐकान्तिन तथा पञ्चकालज्ञ भी कहलाते है। पाञ्चरात्र आगमों में ईश्वर के पर, व्यूह, विभव और अर्चा- ये चार रूप प्रसिद्ध है, साथ ही एक अन्तर्यामी रूप भी है। इस प्रकार पञ्चावतार के रूप में पाञ्चरात्र शब्द की सार्थकता सिद्ध की गयी है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता, जयाख्यसंहिता, सात्वतसंहिता, पाञ्चरात्ररक्षा, पाद्मसंहिता, यतीन्द्रमतदीपिका, लक्ष्मीतन्त्र, श्रीभाष्य आदि ग्रन्थों में इन सिद्धान्तों की व्याख्या हुई है। इनमें पाञ्चरात्र आगम-प्रक्रिया से भगवान् लक्ष्मीनारायण की पूजा-सपर्या प्रतिपादित है। श्रीनाथमुनि, यामुनाचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य इस श्री वैष्णव दर्शन के मुख्य उपदेष्टा आचार्य हैं। षड्विधा शरणागति इस दर्शन की मुख्य उपलब्धि है। इसमें द्वादश आळवार भक्तों- सन्तों की विशेष प्रतिष्ठा है।

तन्त्रागमशास्त्र में सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र की सिद्धि के लिये ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या नामक पादों का विधान है। इनमें सम्यक् दर्शन की सिद्धि के लिए ज्ञानपाद या विद्यापाद, सम्यक् ज्ञान के लिए योगपाद तथा सम्यक् चरित्र की सिद्धि के लिए क्रिया और चर्यापाद का विधान है। पाद विभाग के न रहने पर भी शैव, वैष्णव, शाक्त तथा बौद्धादि सभी तन्त्रों में इस तरह के विषय सर्वत्र वर्णित है। इन सब में भी क्रिया तथा चर्या सम्बन्धी विषयों का विस्तार अधिक है।

प्राय: भगवान् शङ्कर को रुद्र कहा जाता है। रुद्र शब्द का मौलिक अर्थ रुलाने वाला (रोदयतीति रुद्रः) है। परमात्मा अपनी प्रजा को कभी-कभी रुलाते हैं, पर उनको पापों से धुलाकर निर्मल बनाने के लिए। *शिवपुराण* में रुद्र शब्द की व्याख्या मिलती है। रुः का मतलब दुःख या दुःख कारण है। उसे मिटाने वाला रुद्र कहलाता है। अतः रुद्ररूप भगवान् दुःख मिटाने के लिए ही दुःख देते हैं। दुःख में ही भगवान् का स्मरण किया जाता है। भगवान् को जब हम भूल जाते हैं, तब दुःख के रूप में भगवान् अपने सान्निध्य का अनुभव कराते हैं और सुख का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। यही रुद्र नाम की भद्र भावना है। तन्त्रागमों में शिव-शक्ति के समागम (सामरस्य) का वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध है—

बिन्दु-नाद महालिङ्गं शिवशक्ति-निकेतनम्।
देहः शिवालयः प्रोक्तः सिद्धिमिदं सर्वदेहिनाम्।। [5]

शारदातिलक के अनुसार—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः।।
बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदः।। [6]

तन्त्रागमीय प्रणाली में याग का अभिप्राय—**'यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनं, होमो वह्निसन्तर्पणम्'** निर्दिष्ट है।[7] **'अथ देवयजनं व्याख्यास्यामः'**[8] भगवत्प्रतिष्ठा 'देवयज्ञ' है—ऐसा मत महर्षि मरीचि का है। अर्थात् याग का तात्पर्य मूर्त्यार्चन है।

आगमिक विधान में मूर्ति के लिए 'बेर' शब्द बहुप्रयुक्त है इसके अतिरिक्त बिम्ब, अर्चा, विग्रह तथा प्रतिमा भी पर्यायरूप में प्रतिष्ठित है। आगमिक साधना में देवप्रासाद का निर्माण कर उसमें विग्रह की सविधि स्थापना की जाती है और उसी विग्रह का समर्चन किया जाता है जिससे ऐहिक और आमुष्मिक की प्राप्ति होती है।

पाञ्चरात्रागम के *शाण्डिल्यसंहिता* का अभिमत है कि त्रिपुरारिसम्प्रदाय का आविर्भाव भगवान् विष्णु के द्वारा हुआ है।[9] *सनत्कुमारसंहिता* में रुद्रयाग का सम्यक् विवेचन किया गया है जो अधोलिखित है—

रुद्रयागं ब्रवीमि वः—
ग्रामाद् धनुःशताद् दूरं बहिः कुर्याच्छिवालयम्।
ग्रामाद्धनुःशतादर्वाङ् नाशयेन्नात्र संशयः।।
वायव्याग्नेयकोणं च ग्राममध्यं च वर्जयेत्।
श्मशाने कुरुते ग्रामवायव्ये तु शिवालयम्।।
आग्नेये राष्ट्रनाशः स्याद् ग्रामनाशस्तु मध्यमे।
यस्मिन् शिवालयच्छाया ग्रामे नित्यं पतिष्यति।।
तदूष्मणा तु स ग्रामो विनश्यति शनैः शनैः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दूरं कुर्याच्छिवालयम्।।
श्रीधाम्ना विष्णुधाम्ना वा न नाशयति यन्त्रितः।
शिवालयस्य ग्रामस्य मध्ये तस्मात् प्रयत्नतः।।
अन्तरा श्रीगृहं वापि कुर्याद्विष्णुगृहं तु वा।
प्राग्द्वारमुत्तरे कुर्यात् प्रत्यग्द्वारं तु दक्षिणे।।
प्रत्यग्द्वारं प्रतीच्यां च प्राच्यां प्राग्द्वारमेव वा।
प्रत्यग्द्वारं च नैर्ऋत्ये प्राग्द्वारं चेशगोचरे।।
शिवालयं प्रशंसन्ति प्रायो ग्रामपराङ्मुखम्।
ग्रामपार्श्वे न कुर्वन्ति ग्रामवृद्धिर्यदीष्यते।।
अरण्ये पर्वते चैव प्रशंसन्ति शिवालयम्।
प्रासादं पूर्ववत् कुर्यात् पूर्वोक्तैर्द्रव्यविस्तरैः।।
प्रासादस्यानुरूपेण प्रतिमां कारयेद् बुधः।

आसीनमेव कुर्वीत् स्वैरं पूर्वे च पश्चिमे।।
स्थितमन्यत्र कुर्वीत शयितं न तु कारयेत्।
पीतमष्टभुजं कुर्याच्चर्माम्बरधरं हरम्।।
बद्धनागोत्तरासङ्गं जटामुकुटधारिणम्।
नीलकण्ठं त्रिनेत्रं च कुर्याच्छशिकलाधरम्।।
हरं पिङ्गलपद्माक्षमङ्गारसमतारकम्।।
त्रिशूलपट्टसधरमर्कमालाविभूषितम्।।
आसीनं वा स्थितं वापि हरमेवं तु कारयेत्।
पद्मपीठं भवेत्स्थाने सिंहासनमथासने।।
पश्चाच्चामरधारिण्यौ गङ्गा च यमुना तथा।
दक्षिणे चैव वामे च स्थिते कार्ये सितासिते।।
उपमन्यरुमा चापि अर्चनापीठपार्श्वयोः।।
दक्षिणे चोत्तरे कार्यौ रक्तश्यामौ कृताञ्जली।
उपमन्युर्जटाधारी उमा वै मौलिधारिणी।।
स्कन्दं सनत्कुमारं च तयोः कुर्वीत पृष्ठतः।
दक्षिणे चोत्तरे चैव दशसंवत्सराकृती।।
ब्रह्मा चाग्निश्च कर्तव्यौ देवस्योभयपार्श्वतः।
दक्षिणं बाहुमाश्रित्य ब्रह्मा तिष्ठति यन्त्रितः।।
वामबाहुं समाश्रित्य वह्निस्तिष्ठत्ययन्त्रितः।
तयोस्तु पृष्ठतः कार्यौ चन्द्रादित्यौ यथाविधि।।
उत्तमाः परिवारास्तु दशैते परिकीर्तिताः।।
कुमारद्वयहीनाः स्युः शेषास्त्वष्टौ च कीर्तिताः।।
ब्रह्माग्निसोमसूर्यैश्च कुमारद्वितयेन च।
विहीनास्त्वधमाः प्रोक्ताश्चत्वारः परिवारकाः।।
पूर्ववल्लोकपालाश्च कर्तव्याः स्युर्यथादिशम्।।
प्रासादस्याग्रतः कुर्याद् वृषभस्थानमुत्तमम्।।
चण्डस्थानमथेशाने तत्सूत्रं परिहृत्य च।।
प्रासादलक्षणं सर्वं ब्रह्मरात्रं प्रकीर्तितम्।
तस्मादत्र न सम्प्रोक्तः प्रासादस्य तु विस्तरः।।
लिङ्गत्रयस्य भेदश्च तत्रैव कथितो मया।

प्रतिष्ठा च तथा कार्या विशेषं कथयामि वः।।
पञ्चभिर्ब्रह्मरात्रोक्ता प्रतिष्ठा शङ्करस्य च।
स्थापना स्यादघोरेण शान्तिहोमस्तथा परैः।।
रुद्रगायत्र्या कुर्याद् दिशाहोमं समन्ततः।।
एवं प्रतिष्ठां कृत्वा तु कौतुकार्चामथार्चयेत्।।
कर्मार्चां रुद्रगायत्र्या स्थापयेत् परमेष्ठिना।
एतयोरेव कुर्वीत प्रतिमायां तथात्मनि।।
सद्योजातेन मन्त्रेण देवमावाहयेच्छिवम्।।
स्थापयेत् तमघोरेण प्रतिमायां यथाविधि।।
वामदेवेन सांनिध्यं ततः कुर्याद्विचक्षणः।
प्रणवेनाशनं दत्त्वा ततः स्थानानि कल्पयेत्।।
अनन्तस्य ततः प्राच्यां सूक्ष्मस्यैव तु दक्षिणे।
शिवोत्तमस्य वारुण्यामेकनेत्रस्य चोत्तरे।।
शिखण्डिनस्तथाग्नेय्यां श्रीकण्ठस्य च नैर्ऋते।
त्रिमूर्तेश्चैव वायव्ये एकरुद्रस्य चैश्वरे।।
द्वितीयावरणे पश्चान्मुद्रास्थानानि कल्पयेत्।
मालिन्याः कल्पयेत् प्राच्यां निष्ठुरायाश्च दक्षिणे।।
पद्मस्य पश्चिमायां च कालकण्ठ्यास्तथोत्तरे।
मुकुलाश्च तथाग्नेय्यां शशिकन्याश्च नैर्ऋते।।
वायव्ये ध्वजमुद्राया ऐशान्यामञ्जलेरपि।
तृतीयावरणे पश्चाल्लोकपालास्तु कल्पयेत्।।
अर्घ्यं पाद्यं तथा स्नानं दद्यात् तत्पुरुषेण तु।
तेनैवाचमनीयं च वस्त्रदानं तथैव च।।
ब्रह्मसूत्रमलङ्कारमीशानेन नियोजयेत्।
गन्धं पुष्पं च दीपं च धूपं च चरुमेव च।।
ततश्चाञ्जलिपुष्पं च होममन्त्रेण योजयेत्।।
शेषान् सर्वान् स्वनाम्ना तु पूजयेच्च विचक्षणः।।
उद्वासनं तु बीजेन रुद्रगायत्र्यापि वा।
एवमेव तमष्टम्यामहोरात्रमुपोषितः।। [10]

नारदीयसंहिता में रुद्रयाग का स्वरूप उपलब्ध है। महर्षि नारद के ही शब्दों में—

रुद्रयागं प्रवक्ष्यामि सर्वविद्याप्रदं सदा।।
शिवालयं तु कुर्वीत ग्रामादीनां पराङ्मुखम्।।
ग्रामश्मशानयोर्मध्ये स्थानं विष्णोः श्रियस्तु वा।
ग्रामस्याभिमुखं कुर्याद् ग्रामादीनां विवृद्धये।।
यम् ईशानाय मन्त्रोऽस्य नमोऽन्तः प्रणवादिकः।
द्विहस्तं शूलिनं रौद्रं नागाभरणभूषितम्।।
व्याघ्रचर्मपरीधानं जटामुकुटधारिणम्।।
त्रिनेत्रं रौद्रतारं च सुस्थितं शशिशेखरम्।।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्थितमुदितमानसम्।
वृषभं चोपरि न्यस्य सनकं स्कन्दमेव च।।
सनत्कुमारं ब्रह्माणं चन्द्रादित्यौ यथाकमम्।
पूर्वादीशानपर्यन्तं पूजयेच्च स्वनामभिः।।
वृषभाङ्कं विमानं तु परिवारैश्च संयुतम्।।
अष्टभ्यां तु विशेषेण पूजयेच्छूलिनं विभुम्।। [11]

विष्वक्सेनसंहिता का अभिमत है कि रौद्र विधान के अनुसार देवालय निर्माण, विग्रहार्चन का फल निर्दिष्ट है—

स्थापिते रौद्रमार्गेण पूज्यमाने दिने-दिने।
हित्वा रौद्रविधानं तु सर्वेषां हितकाम्यया।।
ग्रामवृद्धिकरं पुण्यं राजभूसुरवर्धनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन हित्वा रौद्रं तु तत्क्षणात्।। [12]

महर्षि कश्यप के अनसार मन्दिर निर्माण स्थल का निर्देश निम्नवत् है—

ऐशान्यां वाह्यो तद्ग्रामपराङ्मुखं हरं स्थापयेत् शुभदमिति। अश्वरतनागायुधयोधानां जयवीर्यादयो राजसगुणा रुद्रशक्त्या प्रसिद्ध्यन्ति उग्ररूपत्वाद्धरस्य। अतो नगर्यादिषु हरः पूज्यः।[13]

नन्दीविशालादि विमान-स्थान का निर्देश। इस प्रकार है—

नन्दीविशालं दक्षिणे ग्रामादीनां पश्चिमे अष्टाङ्गमुत्तरे सोमच्छन्दं पूर्वे पर्वताकृतिं सर्वदिक्षु चतुःस्फुटं ग्रामबाह्योद्यानपर्वतनदीतीरेषु नन्दीविशालं सर्वतोभद्रं पर्वताकृतिं वा कारयेत्।। [14]

रुद्र निर्मित नन्दीविशालादि विमान का वर्णन अत्रिमुनि के शब्दों में—

नन्दीविशालमष्टाङ्गं वृषभाकारमेव च।।
चतुष्पुटं तथा भद्रं वृत्तमस्तकसन्धिकम्।
अङ्गनाकारमप्येवं पञ्चरामुखमेव च।।
वृत्तसौभद्रकं चैव सर्वतोभद्रकं तथा।
विमानं वृषभच्छन्दमुरगच्छन्दमेव च।।
कोण्ड्यावृत्तविमानं च भूतवैहारमेव च।।
रुद्रेण निर्मितान्येतद्विमानानि तपोधनाः।। [15]

वैखानस आगम में परिषद्देवबेरकल्पन में शिव का स्वरूप निम्नवत् है—

हरः सस्यनिभः प्रोक्तः सुवर्णाम्बरसंयुतः।
तेन भावेन कर्तव्यं वपुर्विष्णोरिव स्मृतम्।।
दशतालपरीणाहं नवतालादनन्तरम्।
तन्मध्यमं तदा ग्राह्यं दिव्यं संहननं समम्।।
अच्युतस्येवाभरणं ब्रह्मसूत्रं विना तथा।
श्रीवत्सं दिव्यचिह्नं च विना रूपं समाचरेत्।।
उत्तरे ध्रुवबेरस्य प्रवालाग्निनिभो भवेत्।
टङ्कैणधृत चतुर्बाहुर्व्याघ्रचर्माम्बरो हरः।
सोऽर्धचन्द्रजटामौलिः पिङ्गनेत्रैस्त्रिभिर्युतः।।
आर्द्राजो मार्गशीर्षे तु शिवश्चण्डीशशैषिकः।
दक्षिणाभिमुखश्चैव वृषभध्वजवाहनः।।
पार्वतीशः शूलपाणिः पूज्यश्चात्र पिनाकवान्।। [16]

कश्यप ज्ञानकाण्ड में उपर्युक्त कथन का ही अनुमोदन किया गया है। [17]

विमानार्चनकल्प में '**श्वेताभः, डमरुध्वनिः, मकारबीजः, गङ्गाधरः, अष्टमूर्तिः**' इति च अधिक लभ्यते।[18]

शतरुद्राणां लक्षणम्

ऐशान्यां पश्चिमाभिमुखाः श्वेताभाः व्याघ्रचर्माम्बराः नीलग्रीवास्त्रिनेत्राः पिङ्गनेत्राः शकारबीजा अन्यत् सर्वं रुद्रवत्।।

एकादशरुद्राणां लक्षणम्

तदक्षिणे अन्तराले पश्चिमाभिमुखाः श्वेतवर्णा व्याघ्रचर्माम्बरधरा नीलग्रीवास्त्रिनेत्राश्च।
अन्यत् सर्वं रुद्रवत्, एकादशरुद्राः। [19]

हयशीर्षसंहिता के आदिकाण्ड में शिव के विभिन्न स्वरूपों का निर्देशन वर्णित है। [20] इसी संहिता में शिवलिङ्गों का स्वरूप भी प्रतिपादित है। [21] *विष्णुतिलकसंहिता* में शिवरात्रि का उल्लेख है। [22]

पाद्मसंहिता के क्रियापाद रुद्र का निम्नवत् है—

रुद्रं त्रिनेत्रमरुणं जटामुकुटधारिणम्।
चतुर्भुजं नीलकण्ठमिन्दुरेखाविभूषितम्।।
वैयाघ्रचर्मवसनं सर्वाभरणभूषितम्।
कराभ्यामपि मुद्ग्याभ्यां वरदाभयदं स्थितम्।
अपराभ्यां च हस्ताभ्यां विभ्राणं परशुं मृगम्।। [23]

महाभारत में एकादश रुद्रों में से एक अहिर्बुध्न्य कहे गये है। [24] भागवत में रुद्र के नामों में अहिर्बुध्न्य परिगणित है। [25] पाञ्चरात्रागम की प्रसिद्ध संहिता *अहिर्बुध्न्यसंहिता* है। जिसपर सर्वप्रथम जर्मन विचारक डॉ. एफ. ओ. श्रेडर ने अपनी लेखनी चलायी थी। [26] *अहिर्बुध्न्यसंहिता* में अहिर्बुध्न्य का स्वरूप इस प्रकार है—रुद्रार्चन के लिए ग्राह्य पुष्प संकेत ज्ञानकाण्ड में उपलब्ध है—

रुदैर्वसुभिरादित्यैः सिद्धैः साध्यैर्मरुद्गणैः।
ऋषिभिर्योगिभिर्दिव्यैर्भूतैर्नानाविधैरपि।। ।
ददर्श सेवितं तत्र समासीनं सहोमया।।
त्र्यक्षं वरदमीशानं शूलिनं चन्द्रशेखरम्।
पतिं पशूनामनिशं भवपाशविभेदिनम्।।
स्थितं मूर्तिभिरष्टाभिरवष्टभ्य जगत्त्रयम्।। [27]

कश्यप मुनि ने रुद्रार्चन में प्रयुक्त होने वाले पुष्पों का उल्लेख किया है—

रुद्रस्यार्कनिलोत्पलनिर्गुण्ड्युन्मत्तमेषद्विकर्णीपट्टिकानि। [28]

देवीपुराण में पृथक्-पृथक् द्वादश माह में शिवार्चन में प्रयुक्त होने वाले पुष्पों का वर्णन तथा पूजन का फल विधान अधोलिखित रूप से वर्णित है[29]—

वैशाखे तु प्रकर्तव्या पूजा पाटलजैः स्रजै।।
सर्व्वकाममवाप्नोति ज्येष्ठे पद्मार्ज्जुनैस्तथा।।

आषाढे विल्वकह्लारैरिहितं लभते फलम्।
नोमाली कुसुमैः पूजान् नभे कार्य्या महाफला।।
कदम्बचम्पकैरीषे सर्वकामफलप्रदा।
पूजा पङ्कजमालाभ्यां सर्वाभ्युदयदायिका।।
शतपत्रिकया पूजा कार्तिके सर्वकामिका।
मार्गे नीलोत्पला पूजा पुष्ये कुञ्ज कजास्तथा।।
माघे कुन्दकृता पूजा सर्वकामप्रदायिका।
फाल्गुने मरुपत्रोत्था माधवी शुभदायिका।।
एवं संवत्सरं चैत्र्यां यः कुर्याद् ग्रहसत्तम।
गन्धपुष्पान्नवस्त्रैश्च तस्य पुण्यफलं शृणु।।
हेमगो भूमिवस्त्रान्न विद्यादानफलं लभेत्।
वाजपेयमहामेधराजसूयशताधिकम्।।
अश्वमेधं पशुमेधं गोमेधं क्रमशः फलम्।
लभते दक्षिणा होमं व्रतान्ते विधिना ददेत्।।
पूरणं फलपुष्पैश्च वस्त्रपट्टस्रजान्नजम्।
धृतक्षीरदधिभक्तैः सर्व्वकामफलप्रदः।।
एवं भावानुरूपेण यस्तु पूजां प्रकल्पयेत्।
शिवाय संभवेद् वत्स शिवस्थानचरः सदा।।

वेद में बुध का प्रयोग होने पर भी बोध शब्द प्रयुक्त नहीं है। बुध्न्य शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है–

'**उपरि बुध्न्य एषाम्**' (ऋ. 1/24/7) '**ऋतस्य बुध्न्य**' (3/6/7) संस्कृत में इसी भावना के प्रवाह में बुध का अर्थ सचेतन होता है। वेदि में अग्नि शिखा सर्पफण सदृश प्रदर्शित होती है। अस्तु अग्नि के लिए 'अहिर्बुध्न्यः प्रयुक्त है। हठयोग के सन्दर्भ में मूलाधार में स्थित सर्परूपिणी कुण्डलिनी का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अहिर्बुध्न्य शब्द का तात्पर्य चरम सत्य चेतना का बोधक है और इसका फल पूर्णप्रज्ञा या संवित् है। *अहिर्बुध्न्यसंहिता* में नारदकृताहिर्बुध्न्यस्तुति अधोलिखित है—

नमस्ते देव देवेश नमस्ते वृषकेतन।
वृषप्रवरवाहाय वृष्णे कामप्रवर्षिणे।।
ओजीयसे परस्मै ते मीढुष्टं नमोस्तुते।।
सर्वज्ञाय स्वतन्त्राय नित्यतृप्ताय ते नमः।।
अनादिबोधरूपाय नमस्ते नित्यशक्तये।

कर्वे हर्षे च जगतां षडङ्गाय नमोस्तु ते।।
दशाव्यय नमस्तुभ्यं नमस्ते कृत्तिवाससे।
अघोरायाथ घोराय घोरघोरतराय च।।
सद्योजाताय देवाय वामदेवाय ते नमः।
नमो ज्येष्ठाय रुद्राय भवोद्भव नमोस्तु ते।।
नमो बलविकाराय बलप्रमथनाय ते।।
नमः.....य ते नमः।।
नमः कलविकाराय कालाय कलनात्मने।
नमस्ते सर्वभूतानां दमनाय मनोन्मन।।
नमः सर्वाय शान्ताय शम्भवे शम्भवे नमः।
विद्येश्वर नमस्तुभ्यं भूतेश्वर नमोस्तु ते।।
महादेव नमस्तेऽस्तु नमस्तत्पुरुषाय ते।।
ज्ञानरूप नमस्तुभ्यं नमो वैराग्यवारिधे।।
ऐश्वर्यगुणपूर्णाय नमस्ते तपसां निधे।।
नित्यसत्य नमस्तेस्तु क्षमासार नमोऽस्तु ते।।
धृतिसार नमस्तुभ्यं स्रष्टे ते जगतां नमः।।
आत्मसम्बोधपूर्णाय त्रीन् लोकानधितिष्ठते।।
दशाव्ययाय ते नित्यमव्ययाय नमो नमः।।
क्षोण्यम्ब्वनलवाय्वभ्रचन्द्रादित्यात्मने नमः।।
नमः सर्वोपकाराय त्रिलोकीमधितस्थुषे।
इति स्तुवानमग्र्याभिर्वाग्भिर्देवर्षिसत्तमम्।।
प्रसादमधुरं वाक्यमित्युवाच वृषध्वजः।
स्तोत्रेणानेन भक्त्या च तुष्टोऽस्मि मुनिपुङ्गव।।
ब्रूहि किं करवाण्यद्य यद्यपि स्यात् सुदुर्लभम्।। [30]

इस प्रकार वैष्णागमों में भी रुद्र याग की महिमा तथा विधि-विधान का निरूपण किया गया है।

सन्दर्भ

1. *महाभारत शान्तिपर्व,* 219/46
2. *तन्त्रालोक*, जयरथ टीका 1/18
3. *सौन्दर्यलहरी* 31

4. *कुलचूणामणितन्त्र*, 1/4
5. *योगशिखोपनिषद्*, 1/167-68
6. *शारदातिलक*, -1/6, 9
7. *सात्वतसंहिता* अलशिंगभट्टभाष्य द्वितीय परिच्छेद पृ. 19-20
8. *विमानार्चनकल्प* पटल 39
9. *शाण्डिल्यसंहिता* भक्तिखण्डे पञ्चमोध्यायः
10. *सनत्कुमारसंहिता* शिवरात्रे प्रथमोध्यायः-166/180
11. *नारदीयसंहिता*, 28/53-59।
12. *विष्वक्सेनसंहिता*-39/283-84
13. *ज्ञानकाण्डे*-17
14. तत्रैव-33
15. *समूर्त्तार्चनाधिकरण*-7/25-28
16. *क्रियाधिकार* 5/107/109
17. *ज्ञानकाण्डे*-49
18. *विमानार्चनकल्प पटल*-20
19. तत्रैव-20
20. *हयशीर्षसंहिता आदिकाण्ड*- 29/1-28
21. *हयशीर्षसंहिता आदिकाण्ड* 30 / 1-22, 31/ 1-23
22. *विष्णुतिलकसंहिता* 8/298
23. *पाद्मसंहिताक्रियापादे* 22/31-33
24. *महाभारत आदिपर्व* अ.50.1-3
25. *भागवत*-6/6/18
26. *Introduction. To pancharatra and ahirbudhnya sanhita.*published by adyar library research center madras. 1916
27. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, अ. 1/26-28
28. *ज्ञानकाण्ड*- 72
29. *देवीपुराण* अध्याय - 62
30. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, 1/30-43

आचार्य एवम्, अध्यक्ष
धर्म - आगम (तन्त्र) विभाग
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5
दूरभाष : 9452823899

आचार्य अभिनव गुप्त सम्मत साधना पद्धति में मातृका की प्रधानता

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म।। *वरिवस्या रहस्य*

काश्मीर शैव दर्शन की परम्परा में साधना का सर्वोच्च स्थान हैं क्योंकि जीव को यही शिव रूप में परिणत करती है। मातृका ही इस साधना का मूलाधार है। साधना पद्धति के अवलोकन से सिद्ध होता है कि इसका मूल शब्द ब्रह्म की अवधारणा है तथा मातृका उसका व्यक्त रूप है। अतः सभी प्रकार की भारतीय साधना पद्धतियों में सर्वप्रथम मातृकाओं का न्यास शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक अंगों में किया जाता है। *तन्त्रालोक* में 'षडध्वा' की परिभाषा करते हुए महामाहेश्वर अभिनव गुप्त इसके छः भेदों की चर्चा इस प्रकार करते है—

कला तत्त्वं च भुवनं वर्णः पदमतः परम्।
मन्त्रश्चेति समासेन षडध्वा परिपठ्यते।।

तन्त्रालोक इनमें प्रथम तीन का सम्बन्ध वाक् के अर्थतत्त्व से है तथा शेष तीन का सम्बन्ध शब्दतत्त्व से है। वस्तुतः वर्ण, पद और मन्त्र यह तीनों शब्दरूप ही है। शब्द के तीन स्तर है, जिन्हें स्थूल, सूक्ष्म तथा पर भी कहा गया है। शब्द ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया के रूप में विवर्तित होता है। जिसे त्रिकदर्शन में क्रम, कुल तथा त्रिक माना गया है। जिनकी शुद्धि हेतु आणव, शाक्त तथा शाम्भव उपायों का वर्णन इस परम्परा में बहुधा किया जाता है। तुरीय अनुपाय में आनन्द का प्राधान्य रहता है।

शाक्त परम्परा में भी इसी षडध्वा को निर्विवाद रूप में तथैव मान्य किया गया है। यथा द्रष्टव्य है *कामकला विलास* का यह वचन—

वर्णःकला पदं तत्त्वं मन्त्राः भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवि भाति त्वयि चिदात्मनि।।

वस्तुतः समस्त वर्णमातृका ही मन्त्र स्वरूपा है, कोई भी ऐसा वर्ण नहीं है। जो मन्त्र नहीं हो। अतः समस्त वर्गों का मन्त्रात्मक कहा गया है तथा कोई भी मन्त्र शक्ति के बिना रह नहीं सकता है। वह शक्ति ही मातृका कहलाती है, यथा

सर्वे वर्णात्मका मन्त्राः, ते च शक्त्यात्मका प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।।

मातृका के द्वारा सर्वप्रथम साधक के शरीर में न्यास सम्पन्न किया जाता है। जिससे जीव में शिवत्व का आधान हो सके। साधना में मन्त्र, देवता, गुरु तथा साधक का अद्वैत सिद्ध करना पड़ता है। गुरु के द्वारा दीक्षा विधि से मन्त्र को अधिगत करके साधक देवता के ध्यान में निरत होकर उसके वर्णमातृका रूप मन्त्र का निरन्तर जप कर ऐक्य की प्राप्ति कर लेता है। अतः साधना का मूल आधार एवं सेतु वर्णमातृका सिद्ध होती है। रहट्ट में जिस प्रकार एक घट्ट के प्रवाहित होने पर यन्त्र के सभी घट्ट प्रवाहित होने लग जाते है। उसी प्रकार गुरूपदिष्ट मन्त्र के प्रयोग अद्वयानन्द की प्राप्ति सहजता से हो जाती है। अभिनव गुप्त स्पष्ट रूप में कहते है—

यथारघट्टचक्राग्रघटीयन्त्रौघवाहनम्।
एकानुसन्धियत्नेन चित्रं यन्त्रोदयं व्रजेत्।।
एकानुसन्धानबलाज्जायते मन्त्रोदयेऽनिशम्।
तन्मन्त्रदेवतायत्नात् तादात्म्येन प्रसीदति।। *तन्त्रालोक सप्त आह्निक।*

वर्ण मातृका वस्तुतः वर्णमाला ही है। इसका प्रत्येक अक्षर अपार शक्ति प्रदाता है। इसकी शक्ति का साक्षात्कार गुरुकृपया ही सम्भव है। वेदों में वर्णमातृका की महत्ता सुस्पष्ट रूप में प्रतिपादित है—

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।।
यस्या परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।। *देव्यथर्वशीर्ष*

गीता में '**अक्षराणामकारोऽस्मि**' *दुर्गासप्तशती* में '**अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषताः।**' इत्यादि कथन इस वर्णमातृका की ब्रह्मरूपता का सुदृढ़ समर्थन करते है। वस्तुतः प्रणव सर्व वाक् तत्त्व का बीज है, जिसका स्थूल रूप वर्णमातृका है, अतः योग सूत्र में ईश्वर का वाचक प्रणव कहा गया है तथा गीता में स्पष्टतः कहा गया है ओम् ही एकाक्षर ब्रह्म है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।

पुष्पदन्त आचार्य ॐ की ब्रह्मरूपता को इस प्रकार उद्घोषित करते है—

त्रयी तिस्रो वृत्तिस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्।
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः,
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्।।

इस तत्त्व को काश्मीर शैव दर्शन के प्रसिद्ध ऋषि दुर्वासा अपने *शक्तिमहिम्न स्तोत्र* में इस प्रकार वर्णन करते है—

आद्यैरग्निरवीन्दुविम्बनिलयैरम्ब त्रिलिङ्गात्मभिः।।
मिश्रारक्तसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः।।
स्वात्मोपपादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयैः।
उद्भुतं त्रिपुरेति नाम कलयेद्यस्ते स धन्यो बुधः।।

पञ्चस्तवी में मातृका को कुण्डलिनी कहा गया है—

या मात्रा त्रपुसीलतातनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्द्धिनी,
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता तव सदा तां मन्महे ते वयम्।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा,
ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः।।

आचार्य शंकर ने अपने प्रपञ्चसार में शब्द को ही ब्रह्म स्वीकारा है—

विन्दोस्तस्माद् विद्यमानाद् व्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।।

स्वयं आचार्य अभिनव गुप्त शिव की षड्विधस्वरूपता इस प्रकार प्रतिपादित की है—

भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च।
बिन्दुनादभिः सम्भिन्नः षड्विध शिव उच्यते।। *तन्त्रालोक 1.63*

बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहो।।
षड्वस्त्वात्मा शिवो ध्येयः फलभेदेन साधकैः।।

अतः प्रत्येक शब्द ही ब्रह्म स्वरूप निविर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। परन्तु साधना में अनुभव के आधार पर विविध मन्त्रों का प्रयोग आचार्य अपनी परम्परा के अनुसार करते है। वर्णमातृका के पीठों का न्यास साधक अपने शरीर में प्रारम्भ में नित्य करे—

आत्मनो वाथवा शक्तेश्चक्रस्याथ स्मरेदिदम्।।
न्यस्यत्वेन विधिं देहे पीठाख्यं परमेश्वर।। *तन्त्रालोक 29.58*

इसी प्रकार *तन्त्रालोक* (29.59-63) में शरीर में मातृका न्यास की विधि उपवर्णित है। इसी प्रकार नवयाग में निम्न वर्ग की वामाओं की साधना में उच्चता स्वीकार करते हुए उनमें प्रधान पीठ का स्थान सिद्ध किया है (*तन्त्रालोक* 26-67)। अतः वर्णमातृका की प्रधानता समग्र साधना पद्धतियों में अनिवार्यतः मानी गई है। वर्णमातृका के प्रयोग से साधक संस्कृत होता है। तत्पश्चात् अपनी परम्परा के विशेष मन्त्रों के द्वारा उसमें विशेषताओं का आधान हो सकता है।

समन्वयक,
उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
निदेशक, गाँधी अध्ययन केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
मो. 9413970601
ई-मेलः rajendrasharmauniraj@gmail.com

योग – स्वास्थ्य से समाधि तक एक वैश्विक मूल्य[1]

डॉ. सुशिम दुबे

माननीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी द्वारा 27 सितंबर, 2014 को संयुक्त राष्ट्र महासभा में अपने संबोधन के दौरान 21 जून को योग अन्तरराष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाने का प्रस्ताव देते हुए कहा कि—"योग भारत की प्राचीन परंपरा का एक अमूल्य उपहार है, ...मनुष्य और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य, विचार एवं व्यवहार में सामञ्जस्य, संयम और तुष्टि में समायोजन के साथ समग्र स्वास्थ्य और लोकहित का एकीकृत दृष्टिकोण योग में निहित है। यह केवल एक अभ्यास न होकर व्यक्ति, प्रकृति एवं समष्टि के साथ एकत्व की खोज है। हम हमारी जीवन शैली में बदलाव लाकर और चेतना जाग्रत् करके, जलवायु परिवर्तन से निपटने में मदद कर सकते हैं। आइये हम एक साथ मिलकर एक अन्तरराष्ट्रीय योग दिवस को स्वीकार करने की दिशा में काम करते हैं।" संयुक्त राष्ट्र महासंघ द्वारा इस सार्वभौमिक अपील को स्वीकार करते हुए दिनाँक 11 दिसम्बर 2014 को अपने संकल्प क्र. 69/131 से 21 जून को प्रतिवर्ष अन्तरराष्ट्रीय योग दिवस को मनाने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। श्री बान की मून, महासचिव संयुक्त राष्ट्र महासभा के अनुसार "योग के अन्तरराष्ट्रीय दिवस के रूप में 21 जून की घोषणा करके, महासभा ने इस कालातीत अभ्यास का समग्र लाभ और संयुक्त राष्ट्र के सिद्धांतों और मूल्यों के साथ निहित अनुकूलता को पहचाना है।[2]

मनुष्य सभ्यता के आदि से ही अपने अस्तित्व के विकास तथा परिमार्जन के लिये प्रयासरत रहा है। सदैव उसने साधारण से अच्छा तथा अच्छे से बेहतर के लिये अपने परिश्रम तथा बुद्धि को दिशा दी है। इन्हीं से उसने अपने अन्दर सद्गुणों का विकास, तथा दुष्प्रवृत्तियों का परिमार्जन किया है। इन्हीं सद्गुणों से उसने "मानव" होने की गरिमा भी प्राप्त की है। इन्हीं से उसने धरा(पृथ्वी) पर अपने श्रेष्ठ होने को सिद्ध किया है। अतः वे बातों या प्रत्यय जो कि मानव के चारित्रिक गुणों के विकास के साथ साथ उसके प्रत्येक भौतिक, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि पक्ष को विकास करती हैं एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनाती हैं, उन्हें हम मूल्य कहते हैं।

---

1. आलेख में प्रस्तुत विचार लेखक के स्वयं के हैं। लेखक उन विभिन्न स्रोतों का आभार व्यक्त करता है, जहाँ से सन्दर्भित विषय-सामग्री का संकलन किया गया है।
2. http://www.un.org/en/events/yogaday/

मूल्य का खोज तथा इतिहास– मूल्यों के प्रकार (Types of Value)

प्रत्येक सभ्यता ने चाहे वह ग्रीक हो, रोमन हो या भारतीय हो उसके अस्तित्व के आधार चिरन्तन मूल्य ही रहे हैं। इन मूल्यों ने ही उन सभ्यताओं को समय के प्रवाह में स्थिर तथा सुसंस्थापित रखा है। प्रमुख ग्रीक विचारक प्लेटो ने विवेक, न्याय, साहस तथा संयम को प्रमुख मूल्य मानते हुये "अच्छा" (Good) को मूल्यों के उच्चतर क्रम में शीर्ष पर स्थापित किया है। प्लेटो के अनुसार अन्य मूल्य एवं अस्तित्व इसी की प्राप्ति के लिये चलायमान होते हैं। इसी लिये अरस्तु आदि विचारकों ने इसे Unmoved Mover की भी संज्ञा दी है।

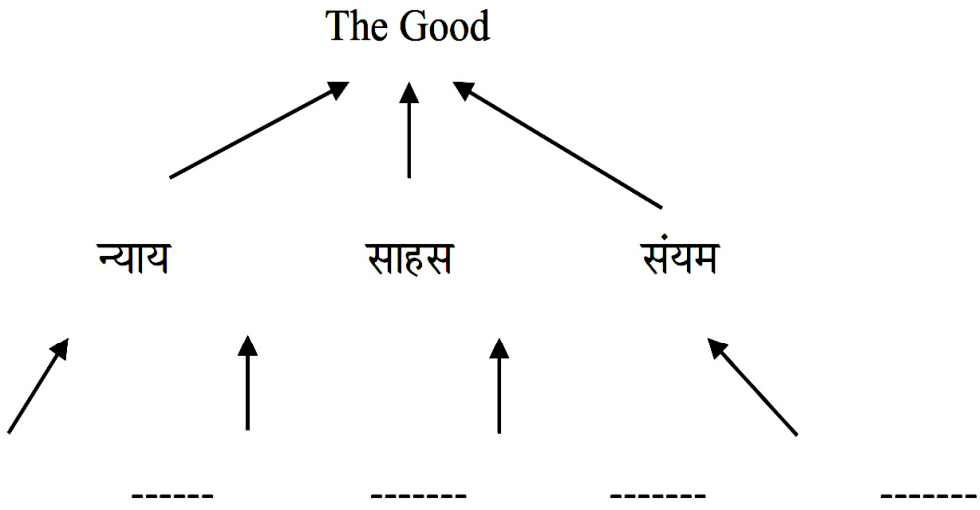

Fig.- मूल्यों की सोपानक्रमिक व्यवस्था

Hierarchy of Value according to Plato (400 B.C.)

आधुनिक परम्परा में मूल्य वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय सभी स्तरों पर मूल्यों के महत्व को समझा जाता है। इसी के अनुरूप मूल्य का वर्गीकरण या प्रकार अधोलिखित रूप से हो सकता है।

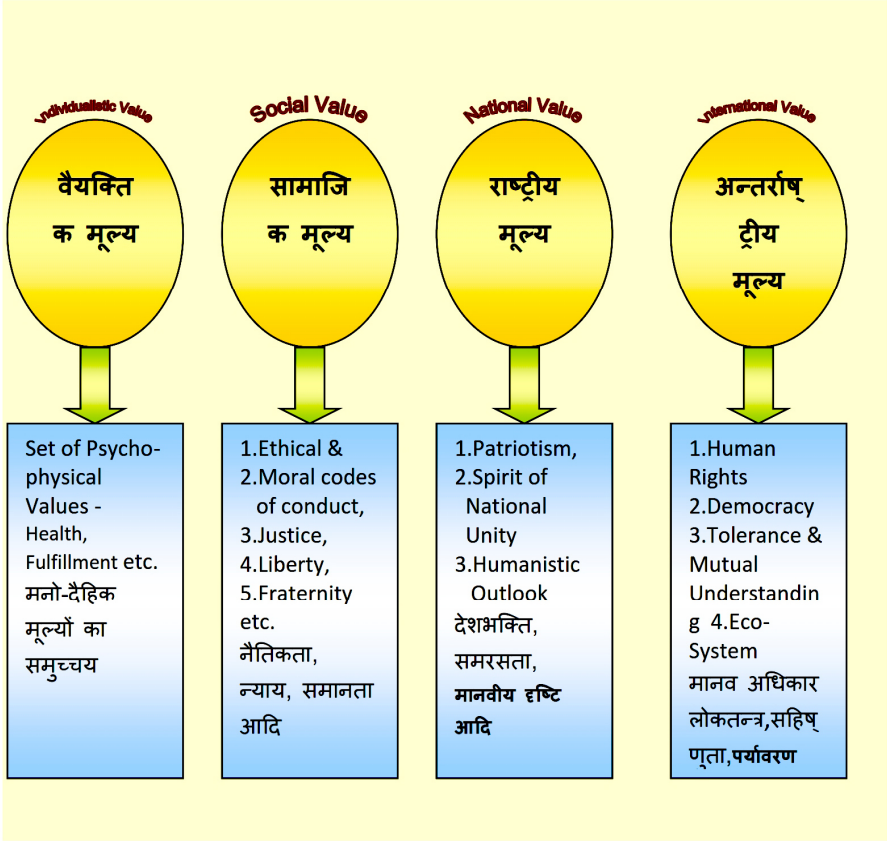

Figure : Types of Value

Source : National Value : Indian Constitution

International Value : U.N.O. Resolution & Charters.

भारतीय परम्परा में चिरन्तन एवं स्थायी मूल्यों को खोजने का प्रयास किया है। इसी के अन्तर्गत भौतिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक श्रेष्ठ निरूपित किया गया है। उपनिषदों में आत्म तथा ब्रह्म को ही परम मूल्यों के रूप में व्याख्यायित किया गया है। भारतीय परम्परा में मूल्यों का विवेचन जिस शीर्षक के अन्तर्गत होता रहा है – वह है "पुरुषार्थ"। पुरुषार्थ से अभिप्राय उन बातों या विचारों से है जो कि पुरुष (व्यक्ति/कर्ता) को अर्थ या मन्तव्य प्रदान करती हैं। इसी सन्दर्भ में चिन्तकों ने चार पुरुषार्थों की अवधारणा को प्रस्तुत किया है—

S.No	Name of Value		Nature of Value
1.	धर्म पुरुषार्थ	Social-Ethical Values	**Regulative/Authoritative**
2.	अर्थ पुरुषार्थ	Politico-economic Values	**Extrinsic/Mean Value**
3.	काम पुरुषार्थ	Psycho-physical, Pleasure Value	**Intrinsic/End Value**
4.	**मोक्ष पुरुषार्थ**	**Spiritual Value**	**Intrinsic Value**

Table : Indian traditional Values (Purushartha)

संक्षिप्त विवेचन (Short description)

धर्म – धर्म 'धृ' धातु से निष्पन्न है, जिसका सरल अर्थ 'धारण करना है' अर्थात् जिनसे लोक, परलोक, स्वास्थ्य, समाज, आदि का धारण होता है, वे सभी धर्म के अन्तर्गत समाहित होते हैं। इसीलिये धर्म या धार्मिक मूल्यों के अन्तर्गत शिष्टाचार के मापदण्ड, नैतिक-नियम, लौकिक-नियम, शरीर के प्रति धर्म, समाज के प्रति धर्म, अन्य प्राणियों के प्रति धर्म यहाँ तक की पेड़-पौधे आदि वनस्पति जगत् के प्रति भी धर्म के रूप में नियमों की वृहद व्याख्यायें मिलती हैं। ये सभी वस्तुतः नियन्त्रककारक घटक या तत्त्व भी कहे जा सकते हैं जो कि मानव को नियन्त्रित करते है, तथा उसे पशुत्व से देवत्व के प्रति उन्मुख करते हैं। इसी लिये धर्म के मूल्यों के क्रम में प्रथम स्थान पर रखा गया है।

अर्थ– अर्थ से अभिप्राय साधनपरकता है, तात्पर्य है कि किसी भी कार्य को करने के लिये जिस भी साधन की आवश्यकता होगी वह ही उसका साधन मूल्य होगा, साधन के बिना किसी परिणाम की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसीलिये अर्थ के अन्तर्गत धन, रुपये पैसे, भूमि, सुवर्ण, मित्र इत्यादि सभी को शामिल किया गया है।

काम – काम से तात्पर्य है इच्छा, कामना, सुख आदि। किसी भी कार्य या चेष्टा का प्रारम्भ बिना इच्छा के नहीं हो सकता। प्रारम्भ में किसी न किसी रूप में इच्छा का होना अनिवार्य है। इस इच्छा के परिणाम स्वरूप उस कार्य में व्यक्ति प्रवृत्ति होती है, तब वह उसको करने को तत्पर होता है, यहीं साधन की अपेक्षा

होती है जो कि अर्थ से मिलती है परन्तु साधनों का भी उपयोग ऐसा हो कि यह अपनी इच्छा की पूर्ति के साथ अन्यों की इच्छा या अस्तित्व का बाधक न बनें यहीं पर धर्म के नियन्त्रक कारकता की आवश्यकता होती है। इस प्रकार काम, अर्थ एवं धर्म तीनों को मिलाने से ही शारीरिक एवं सामाजिक व्यवहार संभव हो पाता है। इसलिये तीनों ही आवश्यक मूल्य के रूप में परिगणित किये गये हैं। किन्तु भारतीय चिन्तन धारा यहीं तक नहीं विरमित होती है, वरन वह ऐसे मूल्य को भी व्याख्यायित करती है, जो कि उपर्युक्त तीनों से किन्हीं अर्थों में विशिष्ट माना गया है। यह आध्यात्मिक मूल्य या मोक्ष है। मोक्ष - मुच् धातु से बना है, जिसका साधारण अर्थ है - छूटना। भारतीय परम्परा में अस्तित्व को एक जन्म तक सीमित न मानकर अनेक जन्मों तथा कर्मफलों के प्रवाह के रूप में देखा गया है। इन्हीं से छूटना मोक्ष कहा गया है। यह आध्यात्मिक मूल्य है।

मूल्य की परिभाषा (Definition of Value)

शाब्दिक या व्युत्पत्यात्मक (Etymology) विवेचन

मूल्य शब्द की निष्पत्ति(उत्पत्ति) 'मूल' से हुयी है, संस्कृत व्याकरण की स्रोत पाणिनि की अष्टाध्यायी में मूल शब्द को दो बार व्याख्यायित किया गया है।

'मूल' से सरल अर्थ, जड़ है। अर्थात्, वह अन्तिम स्रोत जो कि समस्त गतिविधि को संचालित करता है, दिशा देता है, जैसे पेड़ की जड़ न केवल पेड़ को स्थिर रखती है, वरन् जीवन्त(हरा-भरा) भी रखती है, और इस प्रकार उसके अस्तित्व का आधार भी है। इसी प्रकार मूल्य भी न केवल समस्त गतिविधि को दिशा देते हैं, प्रेरणा का आधार होते हैं एवं कर्तव्य-कर्मों को सार्थकता प्रदान करते हैं।

मूल्य के लिये अग्रेजी में 'Value' है। 'Value' की निष्पत्ति ग्रीक 'Velore' से हुयी है जिसका तात्पर्य 'Worth' है। एवं इसका अर्थ है - सार, महत्व। यह सार या महत्व किसी कर्म के परिणाम, प्रभाव या गुण के सन्दर्भ में मापित किया जाता है। यही उसकी Value या मूल्य होता है।

मूल्य की परिभाषायें (Definition of Value)

मूल्यों का अध्ययन प्राचीन समय में धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत एवं वर्तमान में Axiology या मूल्यशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। विभिन्न विद्वानों, विचारकों एवं दार्शनिकों ने मूल्य को विभिन्न प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनकी परिभाषाओं के प्रमुख घटक अग्रलिखित हैं—

क्र.	मूल्य की परिभाषा के प्रमुख घटक	English term	विचारक/संप्रदाय	Place of origin Time period
1.	सुख के रूप में	Pleasure	एपिक्यूरियन्स	**Greek 400 B.C.**
2.	अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के रूप में	Greatest Pleasure for greatest numbers	जरमी बेंथम	**British 17-1800 Century**
3.	उपयोगिता के रूप में	Utility		**American 19-20 century**
4.	अच्छी इच्छा के रूप में	Good Will	कांट, इम्मेन्युअल	**German 17th Century**
5.	उद्विकास	Evolution	चार्ल्स डार्विन, सिजविक	**British 17-1800 Century**
6.	रूचि के रूप में	Interest, General interest	पैरी, बर्ट्रेंड रसेल	**British 19th Century**
7.	स्वर्ग(पारलौकिकता) के रूप में	Heaven & Hell	धर्मशास्त्र(सभी प्रमुख धर्मों के)	**Asia Since the Major Religions evolved**
8.	**मोक्ष(आध्यात्मिकता) के रूप में**	**Liberation, Emancipation**	**दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र**	**Major Religions evolved**

Table : factors in various definition of values by thinkers, their country & time periods

मूल्य शब्द आधुनिक सन्दर्भ में समाजशास्त्रियों (Sociologist), नृतत्त्ववैज्ञानिकों (Anthropologists), अर्थशास्त्रियों (Economists) एवं नीति-मीमांसकों (Axiologists-Ethical Philosophers) के लिये अत्यन्त महत्व तथा शोध का विषय होता है। यहाँ तक की सामान्य व्यक्ति भी कियी भी कर्म के सुकृत्य या

दुष्कृत्य, उसके निकट एवं दूरगामी परिणामों तथा प्रभावों के बारे में जब सोचता है, तब वह वस्तुतः मूल्यों के विषय में ही चिन्तन कर रहा होता है। इस प्रकार मूल्यों का उदय अपने कर्तव्य-कर्मों एवं गतिविधियों पर आलोचनात्मक अनुचिन्तन की प्रक्रिया के तहत् होता है। उपर्युक्त सन्दर्भ से मूल्य को हम साधारण अर्थ में इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं—

"जब किसी कृत्य, कर्म, विचार या प्रक्रिया के गुणवत्ता, प्रभाव एवं परिणाम पर तर्कसंगत तथा बौद्धिक ढंग से विचार किया जाता है, और यह विचार न केवल व्यक्ति के लिये स्वयं वरन् अन्य के लिये भी उसी अनुपात में समान रूप से लागू होता है, साथ ही वह अपने पूर्णीकरण से गहन सन्तोष (Satisfaction) की अनुभूति भी कराता है, तब वह मूल्य कहलाता है।"

इस प्रकार मूल्य के उपर्युक्त विवेचन में निम्न विशेषतायें बतलायी जा सकती हैं—

- मूल्य वैयक्तिक से सार्वभौमिक पर्यन्त स्वरूप के हो सकते हैं।
- मूल्य के सम्बन्ध में व्यक्ति में आरम्भिक विधानात्मक (Positive) विश्वास होता है,
- मूल्य उच्चता, यथेष्ठता, श्रेयसता को अभिव्यक्त करते हैं,
- मूल्य आदर्श होते हैं, प्राप्ति के समय में व्यक्ति से बाहर होते हैं,
- निम्नतर मूल्य उच्चतर मूल्यों में परिवेष्टित (समाहित) होते हैं, यही मूल्यों के साधन एवं साध्य का आधार भी है।

वैश्विक मूल्य की अवधारणा (Notion of Global Value)

वैश्विक मूल्य की अवधारणा में हम उसे वैश्विक मूल्य मानेंगे, जो मानव की लोक यात्रा में उसको व्यष्टि से समष्टि तक ले जाने में सक्षम होता है। इस दृष्टि से वैश्विक मूल्य वे मूल्य या मूल्यों का समूह है जो मानव के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव डालने में सक्षम होता है तथा जो उसके व्यक्तित्व एवं अस्तित्व के सभी पक्षों को पल्लवित कर उसे अस्तित्व के चरम संभावना तक ले जाने में सक्षम हो।

मानवीय अस्तित्व का विश्लेषण – अस्तित्व के पक्ष
(Analysis of Human Personality)

Fig. : Pyramidical hierarchal persuasion of needs & values

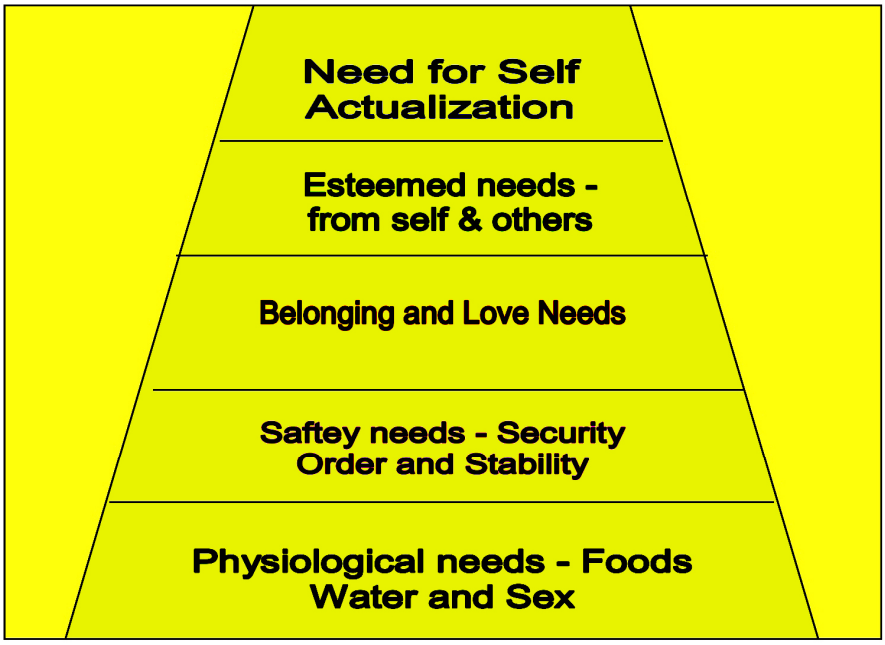

प्रस्तुत वर्गीकरण प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैस्लो (Abraham Maslow, 1908-1970) के द्वारा प्रतिपादित है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये कुछ न कुछ प्राप्तव्य होते हैं जिन्हें वह अपने जीवन में पाना चाहता है। इनकी प्राप्ति उसके अस्तित्व के लिये अनिवार्य हो सकती है – जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि। अथवा कुछ ऐसे भी मूल्य हो सकते हैं जो कि उसे मानसिक सन्तोष, सुख आदि की अनुभूति करा सकते हैं इन्हें मानसिक या मनोदैहिक मूल्य कह सकते हैं। कुछ अन्य वे उच्च मूल्य हो सकते हैं जो उसके व्यक्तित्व को परिमार्जित करते हैं जिससे उसका जीवन विशिष्ट सार्थकता को प्राप्त कर सके जैसे उदारता, ज्ञानार्जन, सत् प्रवृत्तियाँ आदि। मूल्यों की यही खोज मानवीय अस्तित्व के चरम को खोजने का प्रयास करती है इसे ही आध्यात्मिक मूल्य कहा गया है। वस्तुतः विश्व में मानवीय मूल्यों का तानाबाना इन्हीं उपर्युक्त मूल्यों के इर्द गिर्द घूमता रहता है।

मूल्यों की यह व्यवस्था पिरामिडिकल या सोपानक्रमिक है। अर्थात् सबसे पहले शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि जीवन के क्रम में मनुष्य करता है। इसलिये यह पिरामिड का आधार में निरूपित है। इसके पश्चात् सुरक्षा, संरक्षा एवं स्थिरता की आवश्यता व्यक्ति के द्वारा तलाशी जाती है। तत्पश्चात् रिश्ते,

सम्बन्ध व्यवहार एवं सुख की आवश्यकताओं की खोज एवं पूर्ति की ओर व्यक्ति प्रयासरत होता है। इसके पश्चात् सम्मान, स्टेटस, आइडेन्टिटी को अर्जित करता है एवं अन्त में आत्मिक मूल्यों या अध्यात्म की ओर अग्रसर होता है। चूंकि इस स्तर तक कम लोग ही पहुँचते हैं ज्यादातर का जीवन मनोदैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही परिसीमित रहता है, इसलिये पिरामिड का आधार सबसे बड़ा तथा शीर्ष छोटा है जो कि संख्या को भी दर्शाता है।

वैश्विक मूल्य–निर्धारण के आधार – (Criterion for Global ness)

प्रथमतया

• वैश्विक मूल्य हम तभी कह सकेंगे जब उसमें व्यक्तित्व के सभी पक्षों को सन्तुष्ट करने की क्षमता हो या वह मानव के चरम विकास तक ले जाने में सक्षम हो।

द्वितीयतया

• जब वह सभी समयों में, सभी के लिये, समान रूप से लागू हो सके बिना किसी भेद भाव, असमानता या न्यूनता के। इसमें किसी जाति, धर्म, समाज, रूढ़ि, देश आदि के पूर्वाग्रह न हों,

तृतीयतया

• मानव मात्र के कल्याण की बात हो, शान्ति एवं उच्चतर वैश्विक क्रम की स्थापना का लक्ष्य हो।

आइये अब योग का विश्लेषण करें कि क्या योग उपर्युक्त मापदण्डों को कहाँ तक पूरा करता है ?

योग के लक्ष्य तथा संभावना (Possibilities within Yoga and Aims)

योग का लक्ष्य उसकी परिभाषायों से ध्वनित होता है—

योगश्चित्तवृत्ति निरोध:[3]
समत्वं योग उच्यते[4]
योग: कर्मसु कौशलम्[5]

3. योगसूत्र 1.1
4. गीता
5. वहीं

योग में समत्व की बात है, कुशलता की बात है। यहाँ चित्तवृत्तियों के निरोध से आत्मस्वरूप में अवस्थित होने को कहा गया है। यम के अन्तर्गत वणित - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपिरग्रह एवं ब्रह्मचर्य को पतञ्जलि सार्वभौम स्वरूप का वर्णित किया है अर्थात् ये सभी पर, सभी समयों में समान रूप से लागू होते हैं—

जातिदेशकालसमयावछिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।[6]

हठयोग के ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न योगाभ्यास एवं यौगिक क्रियाएँ स्वास्थ्य के साथ साथ विभिन्न रोगों या व्याधियों का सुलभ, सरल सस्ता एवं आधुनिक दवाओं के विपरीतकारी परिणामों से रहित होता है। वर्तमान में भी योग के प्रति जनाकर्षण एवं रूझान का सबल कारण यही है। चूंकि स्वास्थ्य एवं रोगरहितता देश, काल, जाति, धर्म की परिधि से ऊपर तथा सभी मानवों की समान आवश्यकता है अतः योग अपने इस स्वरूप में भी वैश्विक मूल्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

योग आध्यात्मिक मूल्यों की परिणति है। जब मानवीय अस्तित्व जागतिक व्यवहारों की ऐषणाओं को त्यागकर अपने अस्तित्व में संयुज्य होना चाहता है वहाँ ही चित्त वृत्ति के निरोध एवं कैवल्य की बात प्रासंगिक एवं सार्थक होती है। इस भूमिका में योग मानवीय अस्तित्व की अन्तिम संभावना अर्थात् आध्यात्मिक मूल्य की भी प्राप्ति कराता है, जो कि धारणा, ध्यान तथा समाधि की परिणति भी है। कहने की आवश्यकता नहीं है। कि योग का यह द्वार भी सभी मानवों के लिये समान रूप से खुला है।

संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.0.) की वैश्विक संस्था यूनेस्को (UNESCO) ने हाल ही में अपनी रिपोर्ट में उच्चतर आदर्शों के रूप में 'learning : Treasure within' को वर्णित किया है, विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.0.) ने भी अपनी स्वास्थ्य की परिभाषा में आध्यात्मिकता या Spirituality को भी समाहित किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि योग को वैश्विक मूल्य कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा।

योग की वैश्विकमूल्य के रूप में भूमिका तथा आयाम (The Role and dimensions of Yoga as a Global Value)

योग की वैश्विकमूल्य के रूप में भूमिका तथा आयाम को अग्रलिखित तरीके से विश्लेषित एवं विवेचित कर सकते हैं—

6. *योगसूत्र*, साधनापाद, सूत्र 31

Figure : The Role and dimensions of Yoga as a Global Value

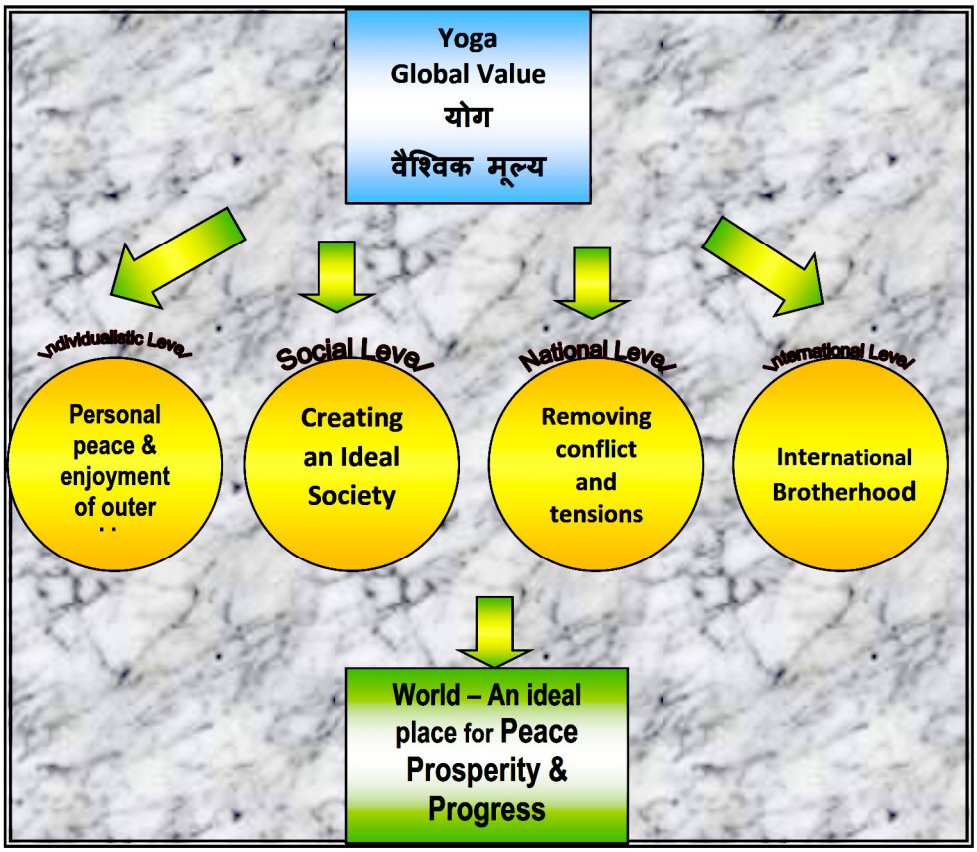

इस प्रकार योग का वैश्विक मूल्य प्रतिष्ठित होता है। यह स्वास्थ्य से समाधि तक की भूमिका निश्चय ही निभाता है।

कार्यक्रम अधिकारी,
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार),
36, तुगलकाबाद इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली - 110062
दूरभाष : 9818420102

चिकित्सायां वैदिकमन्त्रप्रयोगस्य औचित्यम्

प्रवीण कुमार शर्मा

संस्कृतभाषायां चिकित्साशब्दस्यार्थाः ज्ञानेच्छा, दोषापहारः, संशयः, त्रिदोषसाम्यप्रयत्नः भैषज्यकर्माणि च सन्ति। रोगोत्पत्तेः हेतवः त्रिदोष-वैषम्यः, प्रकृतिजन्यप्रभावः (बाह्यान्तःप्रकृतिवैषम्यः), मनोदौर्बल्यानि च भवन्ति। वेदपुराणादिग्रन्थानुसारेण त्राणधर्मिवेदमन्त्रैराधिव्याधिश्च द्विविधरोगाणां चिकित्सा-कर्म कर्तुं सर्वथा शक्यते।

'चिकित्सा' शब्दो मूलतः किद् ज्ञानार्थकाद् धातोः सनि प्रत्यये स्त्रियां टापि कृते निष्पन्नो भवति।[1] अस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थस्तु ज्ञानेच्छा एवास्ति किन्तु कालान्तरेऽयं शब्दो दोषापहारार्थे रूढिमलभत। अत्र साहित्य-शास्त्रीयाणामभिमतमस्ति यत् संशयार्थे विचिकित्सा शब्दो बहुपूर्वं प्रचलित आसीत्। संशयापहारार्थे चिकित्सा-शब्दस्य ग्रहणं साहित्ये कालिदासोत्तरकाले बाहुल्येन संजातम्। आयुर्वेदशास्त्रे चिकित्साशब्दस्य प्रयोगःपुराणेषु उक्तत्वाद् गृहीतोऽस्ति।[2] शरीरे विद्यमानानां धातुमलादिजन्यदोषाणामपहाराय क्रियमाणः प्रयत्नश्चिकित्सा शब्देन वाच्यतां गतवान्। आचार्यः सुश्रुतश्चिकित्साशब्दार्थं भैषज्यकर्मार्थे निरूढं करोतिः—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विचाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्।।[3]

अत्रापि दोषापहाररूपस्यार्थस्यैव प्रतिच्छाया वेविद्यमानाऽस्त्याचार्यप्रवरस्य प्रतिपादने। आयुर्वेदमतेन शरीरस्था धातव एव रोगोत्पत्तौ मूलरूपेण हेतुभूता भवन्ति। अत एव धातुवैषम्यविघातो येनाप्युपायेन भवेत् तत्सर्वं चिकित्साशब्देन बोधनीयम्। सुश्रुतस्य टीकाकारोऽत्र स्पष्टीकरोत्याचार्याभिमतम्—

"तत्र धातुवैषम्यविघातार्थं विधीयमानः क्रियाकलापः वृद्धानां धातूनां ह्रासकरणं क्षीणानां वर्धनं कठिनानां मृदूकरणं मृदूनां काठिन्यसम्पादनं संहतानां विलयनं, विलीनानां वा संहतीकरणं प्रवहतां स्तम्भनं स्तब्धानां वा स्वेदनमित्यादि बहुविधः।"[4]

टीकाकारमतेऽत्र रोगापहारोपायानां निर्देशं विधायेदं स्पष्टीकृतं यच्चिकित्सा रोगापहारस्य समुचिता प्रक्रियाऽस्ति। वेदविज्ञानमत्र किञ्चित्पृथङ्निर्देशं करोति। तदनुसारं बाह्यान्तःप्रकृतौ वैषम्यादेव स्वास्थ्यविघातो भवतीत्यभिमतम्। तत्राधिर्व्याधिश्चेति द्विधा प्रविभक्तोयं स्वास्थ्यविघातः।[5] आधिर्नाम मनसि निपतितानां

बाह्यान्तःप्रकृतिविकारप्रभावाणामसह्यतावशानुभूयमानोत्पीडनविशेषम्। व्याधिश्च शरीरे निपतितानां बाह्यान्तः प्रकृतिविकारप्रभावाणामसह्यतावशादनुभूयमानोत्पीडनविशेषम्।[6]

वेदविज्ञाने रोगाणामुत्पत्तौ यः आधारो गृहीतः स प्रकृतिजन्यप्रभावस्यूपरिणतिरूपोऽस्ति, किन्तु आयुर्वेद यः आधारो गृहीतः सः शरीरान्तर्वर्त्तिधातुमात्रस्य विकृतिरूपोऽस्ति। एवमुभयोः किञ्चिद् भेदो विद्यते। वेदविज्ञानस्य इदमप्यभिमतमस्ति यत् मन्त्राः मननात्त्रायन्ते इति।[7] अर्थात् सर्वदा सर्वथा च मन्त्राणामुपयोगो रक्षार्थमेव भवति। रोगेभ्यः आत्मरक्षार्थं मन्त्राणामुपयोगस्यौचित्यं लक्ष्यीकृत्यैव पुराणेषु मन्त्रचिकित्साया उल्लेखा उपलभ्यन्ते।

मन्त्राणां प्रभावो द्विधा भवति। सस्वर: समुच्चरितो नादरूपो वेदध्वनिः बाह्यप्रकृतेर्विकारानपाकरोति एवमेव मनसि उपांशुरूपेण सस्वरं समुच्चरितो वेदध्वनिः अन्तःप्रकृतेर्विकारानपाकरोति।[8] अत्रेदमपि वक्तुं शक्यते। यत् शरीरस्थधातूनां यदपि क्रियान्वयनं भवति तत्सर्वं मनस एवायत्तं भवति। यदा मनोदौर्बल्यं प्राप्नोति तदैव धातवः प्रकुपिता भवन्ति। व्यवहारेऽपि दृश्यन्ते यत् निरन्तरचिन्तावशात् स्वस्थोऽपि प्राणी रुग्णतामाप्नोति। यश्च मनोदौर्बल्येन ग्रस्तो नास्ति स कदाचिद् रुग्णोऽपि स्वास्थ्यलाभं प्राप्नोति। अतः मनस्तत्त्वमेव चिकित्सार्थ चिन्तनीयमस्तीति वैदिका मन्यन्ते।[9]

वेदेषु शिवसंकल्पसूक्तादौ 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि या भावनाऽभिव्यक्ता सा वस्तुतः चिकित्सामूले विद्यमानस्यास्य रहस्यस्यैव स्फुटतमाऽभिव्यक्तिरस्ति। अत एव वेदे यत्रापि स्वास्थ्योपलाभाय चिन्तनं विहितं तत्र पञ्चमहाभूतानामुपयोगपूर्वकं मनस एव केन्द्रीकरणमुपायत्वेन प्रतिपादितम्। 'अप देव्या' मन्त्रोच्चारणपूर्वकं जलस्यविविधप्रयोगै रोगविशेषापहारस्योल्लेखा अनेकत्र वेदेषु प्राप्यन्ते।[10] वायोर्मन्त्रोच्चारणेन सह प्राणायामविशेषाणामुपयोगस्योल्लेखा अपि वेदविज्ञाने उपलभ्यन्ते।

वेदविद्याया मूलाधारत्वेन प्रणवोपासना विद्वद्भिरद्यापि विधीयते। एवमेव गायत्र्युपासना प्रचलिताऽस्ति। *अथर्ववेदे* तु इदमुक्तं यत् सर्वे देवाः पिण्डे ब्रह्माण्डे चोभयत्र वर्तन्ते—'यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।'[11] देवानां संस्थितेरेव पिण्डब्रह्माण्डयोरुभयोरस्तित्वमस्ति। खगोलीयपिण्डानां प्रभावैः पार्थिवपिण्डस्थदेवानां विचलनादेव रोगादयः प्रादुर्भवन्ति। यदि ब्रह्माण्डस्थदेवानां शक्तिः पार्थिवपिण्डेषु विद्यमानानां देवानां विचलनमवरुणद्धि तदा रोगावरोधोऽवश्यं स्यात्। अत एव वेदमन्त्रा एव तादृश शक्तिमन्तः सन्ति यत्ते ब्रह्माण्डस्थदेवशक्तिं प्रबलीकर्तुं शक्नुवन्ति।

वेदमन्त्राणां चिकित्साक्षेत्रे उपयोगाय प्रयोक्तुः सात्त्विकीवृत्तिः, पावित्र्यं, शुद्धोच्चारणं, मन्त्राणां ऋषिच्छन्दोदेवतानां परिज्ञानं, जपादिविधिषु पाटवं, यज्ञप्रक्रियायाः सम्यग्ज्ञानं चेति सर्वे अपेक्ष्यन्ते। नैभिर्विना कश्चिदपि प्रयोक्ता क्षेत्रेऽस्मिन् सफलीभवितुमर्हति। वेदाः स्वयमेव प्रतिपादयन्ति यद् देवाः जाग्रतमेव जीवनं कामयन्ते। अतस्ते प्रमादं न वाञ्छन्ति। यथोक्तमृग्वेदे—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः।।[12]

देवानां पुनरिदमपि वैशिष्ट्यं दर्शितं यत्ते यज्ञकामाः सन्ति। यज्ञरूपिणः कर्मणः फलदानं तदायत्तमेव। तन्माध्यमेन जीवनदानं तु तैः संकल्पितमेव। यथोक्तं *ऋग्वेदे यजुर्वेदे* चापि—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां, रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।।[13]

सन्दर्भः

1. गुप्तिज्किद्भ्यः सन्, अजाद्यतष्टाप् (*पाणिनीयाष्टाध्यायी*)
2. *सुश्रुतसंहिता* मल्लारिकृत टीका/ पृ.68
3. *सुश्रुतसंहिता*/पृ.34
4. *सुश्रुतसंहिता* मल्लारिकृत टीका/पृ.133
5. *वेदविज्ञानामृतम्*/ पृ.219
6. *वेदविज्ञानामूतम्*/ पृ.222
7. *वैदिकमन्त्रविज्ञान*/ पृ.3
8. *वैदिकमन्त्रविज्ञान*/ पृ.16
9. *स्वास्थ्यप्रदीप*/ पृ.36-37
10. *स्वास्थ्यप्रदीप*/ पृ.47
11. *अथर्ववेद10*/7
12. *ऋग्वेद*/8/2/18
13. *ऋग्वेद*/1/89/2, *यजुर्वेद* 25/15

शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः,
राजस्थानविश्वविद्यालयः, जयपुरम्।
आवास-56, राधाबाग कालोनी,
चौमू, जयपुर (राज.)
दूरभाष : 9928867024

चिकित्सा क्षेत्र में योग

डॉ. नवनीत कुमार

योग जीवन जीने की कला है, योग अध्यात्म की कुँजी है, योग सम्पूर्ण विज्ञान है। यह वाक्य समाज में ऐसे ही प्रचलित नहीं हुए। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जीवन में योग शब्द सर्वत्र पाया जाता है। जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए योग की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, गीता और पुराणों आदि में योग शब्द मिलता है।

योग शब्द संस्कृत के युज् धातु से बनता है। पाणिणि के गणपाठ में तीन युज् धातु हैं। दिवादिगण के युज् धातु का अर्थ समाधि[1] है। दूसरा युज् रूधादिगण में है जिसका अर्थ संयोग[2] होता है तथा तीसरा युज् चुरादिगण में है जिसका अर्थ संयमन[3] है। प्राय: योग को समाधि अर्थ में स्वीकारा गया है।

चिकित्सा क्षेत्र में योग की महत्ता

आज का बाल, युवा और वृद्ध यानी सब प्रकार के आयु वर्ग योग को अपना कर ज्यादा से ज्यादा स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहता है। क्योंकि योग एक मात्र ऐसा सोपान है जिसके आश्रय से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है।

"मानव शरीर को प्रयोगशाला का आधार मानकर ऋषियों द्वारा प्रणीत योग विद्या भारतवर्ष की एक अमूल्य संपत्ति है। योग वस्तुत: समस्त मोक्ष-साधनाओं में से सर्वोत्तम तथा श्रेष्ठतम साधना पद्धति है। योग विद्या को विश्व-मानव के कल्याण हेतु होने से सार्वभौम धर्म कहा गया है। यह यथार्थ सत्य है कि योग कोई नवीन खोजों का परिणाम नहीं है वह प्राचीनतम गुप्त विद्या है जिसका ज्ञान समय के साथ विभिन्न कारणों से जनसाधारण की पहुँच से दूर होता गया"।[4]

आज तक दुनिया में जितनी भी चिकित्सा पद्धतियाँ प्रचलित हैं उन सबसे निदान परिवर्जन एवं 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्' को अल्प एवं 'आतुरस्य रोग प्रशमनम्'[5] को ही अत्यन्त महत्त्व दिया जा रहा है। जिसे हम आजकल आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के नाम से जानते हैं।

आचार्य सुश्रुत जी कहते है—

समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिय:।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमन: स्वस्थ इत्यभिधीयते॥[6]

अर्थात् जिसके वात, पित्त, कफ समान रूप से कार्य कर रहे हो, पाचन शक्ति ठीक हो, रस रक्तादि धातुओं की क्रिया समान हो और आत्मा, इन्द्रिय तथा मन प्रसन्न हो, उसी को स्वस्थ कहते है। आचार्य जी की इसी बात को आधुनिक समय में 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' (WHO) ने इस तरह से परिभाषित किया है—Health is a state of complete physical and mental, spiritual and social well being and not merely the absence of diseases or infirmity. अर्थात् शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक रूप से स्वस्थ होने पर ही वह पूर्ण स्वस्थ कहलाएगें, न कि रोग की अनुपस्थिति से।[7]

मनुष्य का शरीर एक मात्र ऐसा साधन है जिसके माध्यम से पुरूषार्थ चतुष्टय (धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष) तथा त्रयैषणा (प्राणैषणा, धनैषणा, लोकैषणा) की पूर्ति की जा सकती है। चरक संहिता में कहा भी है—'**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**'[8] पृथ्वी पर कोई भी प्राणी अमर होकर नहीं उत्पन्न होता, अत: मृत्यु से त्राण नही मिल सकता, परन्तु रोग दूर किये जा सकते है। इसी उद्देश्य से आयुर्वेद शास्त्र तथा योग विज्ञान का विकास किया गया है। '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'[9] यानी धर्म का प्रथम साधन है, शरीर का निरोग रहना–**सर्वमन्यत् परित्यज्य, शरीरमनुपालयेत्। तदभावे हि भावानां सर्वाभाव: शरीरिणाम्**।[10] अर्थात् दुनिया के सारे कार्य छोड़कर सर्वप्रथम शरीर की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि शरीर के अभाव होने पर सब कुछ का अभाव हो जाता है।

योग चिकित्सा में विविध दृष्टिकोण

जब सांसे विचलित होती हैं तो मन भी अस्थिर हो जाता है। लेकिन जब सांसे शान्त हो जाती हैं, तो मन भी स्थिर हो जाता है और योगी दीर्घायु हो जाता है। इसलिए हमें श्वास पर नियन्त्रण करना सीखना चाहिए।[11]

You cannot always what goes on outside. But you can always control what goes on inside. अर्थात्- 'बाहर क्या जाता है उसे आप हमेशा कंट्रोल नहीं कर सकते हैं। लेकिन अन्दर क्या जाता है उसे आप हमेशा कन्ट्रोल कर सकते हैं'।[12]

'Yoga is the fountain of youth. You're only as young as your spine is flexible'. अर्थात्-योग यौवन का फव्वारा है। आप उतने ही नौजवान हैं जितनी आपके रीढ की हड्डी लचीली है'।[13]

'योग मन को स्थिर करने की क्रिया है।'[14]

'For those wonnded by civilization. Yoga is the most healing salve.' अर्थात्— 'सभ्यता से घायल लोगों के लिए योग सबसे बड़ा मरहम है'।[15]

'शरीर आपका मन्दिर है। आत्मा के निवास के लिए इसे पवित्र और स्वच्छ रखिये'।[16]

'कर्म योग में कभी कोई प्रयत्न बेकार नहीं जाता और इससे कोई हानि नहीं होती। इसका थोड़ा सा भी अभ्यास जन्म और मृत्यु के सबसे बड़े भय से बचाता है'।[17]

'यह योग उसके लिए संभव नहीं है जो बहुत अधिक खाता है, या जो बिलकुल भी नहीं खाता; जो बहुत अधिक सोता है, या जो हमेशा जगा रहता है'।[18]

'योग एक धर्म नहीं है। यह एक विज्ञान है, सलामती का विज्ञान, यौवन का विज्ञान, शरीर, मन और आत्मा को एकीकृत करने का विज्ञान है'।[19]

'सभी बीमारियों का उपचार योग और स्वस्थ जीवन शैली में निहित है'।[20]

योग चिकित्सा का उद्देश्य

आज विश्वभर के अन्दर योग अपना एक स्थान बना चुका है। अन्य चिकित्सा पद्धतियों की तरह योग भी एक वैकल्पिक चिकित्सा का सुप्रभावी साधन है। रोग का होना यह प्रकट करता है कि शरीर में विजातीय द्रव्य भर गये हैं और उसके विरुद्ध जीवनी शक्ति ने खुली लड़ाई आरम्भ कर दी है, साथ ही यह जानकारी मिलती है कि आहार-विहार में घुस पड़ी विकृतियाँ शरीर के ढाँचे की तोड़-फोड़ कर रही है। इस स्थिति के निराकरण के ऐसे सौम्य उपाय होने चाहिए, जिससे जीवनी शक्ति बढे और विषाणुओं को मिलने वाला परिपोषण बन्द हो जाए। इसके लिए संचित मल निष्कासन एवं अवयवों को विश्राम देने वाले उपाय अपनाए जाने चाहिए।

वर्तमान समय में संसार में अधिकतर यही दशा देखने में आती है कि जिन लोगों को अपनी विद्या और बुद्धि के प्रयास से अथवा उच्च सामाजिक स्थिति के कारण विशेष सुख-सुविधाएँ मिल गई हैं, वे लापरवाही या प्रमाद के कारण स्वास्थ्य की दृष्टि से हीन अवस्था में हैं। वे साधनों के अभाव से, विपरीत परिस्थितियों में रहकर जीवन-निर्वाह करने को विवश होने से रोगी और अल्पायु हो जाता है। यदि ऐसे लोग आरम्भ से ही अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें और आरम्भिक दोषों के कारण अथवा जीवन-निर्वाह के लिए किसी भी कारण से उत्पन्न होने वाली त्रुटियों या कमज़ोरी का उसी समय उपाय करते रहें तो कोई कारण नहीं कि वे सामान्य अवस्था में रहते हुए भी सुखी जीवन न बिता सकें और तरह-तरह की बीमारियों और शारीरिक कष्टों से बचे हुए न रह सकें।

योग चिकित्सा के उद्देश्य

योग के चिकित्सा क्षेत्र में मुख्य दो उद्देश्य हैं—

1. शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए।
2. विभिन्न व्याधियों को दूर करने के लिए।

योग चिकित्सा पद्धति

योग चिकित्सा पद्धति को भारत ने विश्व पटल पर स्थापित किया और साथ मे विश्व के सम्पूर्ण वैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा वैद्यों का भी एक मत कहना हैं कि योग एक मात्र ऐसी पद्धति है जो विश्व कल्याण के लिए अपनाई जा सकती है। मैं संक्षिप्त में बताना चाहूँगा कि रोग मुख्यतया दो प्रकार के होतें है—शारीरिक एवं मानसिक।

शारीरिक रोग अर्थात् अनाधिज व्याधि—जो बाह्य कारणों से यानी पञ्चमहाभूतों के प्रकोप के कारण होती है यानी जलना, डूबना, गिर जाना, गड़ जाना या अपघातजन्य व्याधियाँ और जीव-जन्तु के कारण उत्पन्न होने वाली बीमारियाँ जैसे—कालरा, गैस्ट्रो, संग्रहणी और सभी प्रकार के ज्वर आदि बाह्य कारणों से होते हैं, इन्हें हम आधिभौतिक व्याधियाँ कहते है। इन सभी रोगों का निदान एवं उपचार आधुनिक डॉक्टर कर सकते हैं जो साध्य व सुलभ हैं।

मानसिक रोग अर्थात् आधिज व्याधि—इसके सार और सामान्य—ये दो प्रकार होते हैं। सार व्याधि वह है जो पिछले जन्मों के कारण आनुवंशिक या गुरु, देव तथा पितरों के शाप के कारण उत्पन्न होती है। इसे हम आधिदैविक व्याधि कहते है। सामान्य व्याधि में सर्वसाधारण व्याधियाँ हैं, जैसे- उच्च रक्तचाप, मधुमेह, दमा, संधिवात, अल्सर, हृदयरोग, नींद न आना, क्रोध ज्यादा आना, मिर्गी आना, पक्षाघात आना, हिस्ट्रिया जैसी बीमारियाँ, जो मन का स्वर बिगड़ जाने से होती है। इन्हें हम मन:शारीरिक बीमारियाँ (Psycaosomatic Disorder) कहते हैं। ये आध्यात्मिक व्याधियाँ भी कहलाती हैं। मन के स्तर पर चञ्चलत्व यानि विकृति निर्माण होने पर उसका प्रभाव प्राणकोश पर होता है। फलत: उनके व्यापार अनियमित होते हैं और उसके परिणाम स्वरूप शारीरिक व्याधियाँ भी पैदा होती है।

शारीरिक व्याधियों का उपचार हमारे पास होता है क्योंकि वे प्रत्यक्ष दिखाई देती है। परन्तु मानसिक रोगों का कारण खोजना जरा कठिन होता है अत: ऐसे रोगी आजीवन उपचार लेते-लेते अन्य आक्रामक व्याधियों के शिकार हो जाते हैं। जिससे उनका धन, समय और शरीर का ह्रास तो होता ही है, साथ में वे चिन्ता, उदासी, आत्मविश्वास की न्यूनता, आत्महत्या जैसी भावनाओं के भी शिकार हो बैठते हैं। भारतीय ऋषियों ने मन का प्राण से क्या सम्बन्ध है? इस पर खोज़ आज से हज़ारों वर्ष पूर्व ही कर चुके हैं। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि आज विश्व ने इसे स्वीकारा है और वह ऋषियों के दिखायें मार्ग पर चल रहा है। प्राण देवता के अनुग्रह से मनोनिग्रह और विकृतियों के उन्मूलन होने की बात बृहदारण्यक में इस प्रकार कही गयी है—

शास्त्रों में योग चिकित्सा

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तद्गमयांचकार तदसां पाप्मनो दिन्यदधात् तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं, मृत्युमन्ववायानीति।[21]

अर्थात्—प्राण देवता ने इन्द्रियों के पापों को दिगन्त तक पहुँचाकर विनष्ट कर दिया क्योंकि वह पाप ही इन्द्रियों के मरण का कारण था। इन कल्मषों को इस निश्चय के साथ भगाया कि पुन: न लौट सकें।

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतम् वाक्परिवेष्टी चक्षुर्गात्रं गोत्रं संश्रावयितृयो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दूतवान्य वति यश्चक्षु गोमृमान्भवति य: श्रोत्रं संश्रावयितृसंश्रावयितृमान्भवति यो वचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रीमान्भवति।[22]

अर्थात्—यह प्राण ही ब्रह्म है। यह सम्राट है। वाणी उसकी रानी है। कान उसके द्वारपाल हैं, नेत्र अंगरक्षक मन दूत, इन्द्रियाँ दानी, देवताओं द्वारा यह उपहार उन प्राण ब्रह्म को भेंट किए गए।

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वाऽऽयु: प्राण: प्राणो वा आयु:। यावदस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायु: प्राणेन हि एवमस्मिन् लोकेऽमृतत्वमाप्नोति।[23]

मैं ही प्राण रूप प्रज्ञा हूँ। मुझे ही आयु और अमृत जानकर उपासना करो। जब तक प्राण है, तभी तक जीवन है। इस लोक में अमृततत्व प्राप्ति का आधार प्राण है।

मन पर नियन्त्रण करने के लिए शास्त्रकारों ने प्राणायाम साधना पर बहुत बल दिया है। दोनों की परस्पर घनिष्ठता बताते हुए कहा गया है कि यदि प्राण पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो मनोनिग्रह जैसा कठिन कार्य सरल बन जायेगा।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरण:।
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्स्तौ द्वावपि विनश्यत:॥[24]

अर्थात्—जिसने प्राण वायु को जीता उसने मन को जीत लिया। जिसने मन जीता उसने प्राण जीत लिया। चित्त की चंचलता के दो ही कारण हैं- एक वासना का दूसरा प्राण वायु का चंचल होना। इनमें से एक के नष्ट हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।

चले वाते चले विन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमवाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥[25]

अर्थात्—प्राण वायु चलायमान रहने से बिंदु चलायमान रहता है। प्राण निश्चल हो जाने से वीर्य भी निश्चल हो जाता है। समर्थ स्थिरता प्राप्त करने के लिए योगी प्राणायाम करे।

सौम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाद् यत्रायतनमलब्ध्वाप्राण-
मेवोपश्रयते, प्राणबन्धन हि सौम्य मन इति।[26]

अर्थात्—जिस प्रकार डोरी में बँधा हुआ पक्षी घूमघाम कर अपने मूल आश्रय पर ही आ जाता है, उसी तरह यह सौम्य मन कहीं दूसरी जगह आश्रय न पाने पर घूमघाम कर प्राण का आश्रय लेता है क्योंकि मन प्राण से ही बँधा हुआ है।

नाना विधेर्विचारणैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तु यो जयः प्राणः प्राणो यो जय एव हि॥[27]

अर्थात्—अनेक प्रकार के विचारों से मन साध्य नहीं होता है अतः प्राण वायु के जीतने से ही मन जीता जाता है।

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥[28]

अर्थात्—प्राणायाम की अग्नि पाप रूपी ईंधन (रोगों) को जलाकर राख कर देती है और वह सेतु के समान संसार-सागर से पार होने का मार्ग खोलता है।

सारांश

आज धरती पर शरीर, मन और आत्म को पूर्ण स्वस्थ्य प्रदान करने के लिए एक मात्र योग का सहारा है। मनुष्य यदि जीवन के स्वर्णिम समय को जी-कर निर्विघ्नता पूर्वक लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है तो योग रूपी नाव में बैठकर ही सीमा को लाँघा जा सकता है। क्योंकि योग मनुष्य को स्वयं से जोड़ता है। जब रोगी स्वयं में स्थित होना सीख जाता है तब वह स्वस्थ हो जाता है। योग चिकित्सा में श्वास-प्रश्वास पर विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि जो रोगी होता है उसका श्वास अत्यन्त लघु (छोटा) होता है और जो स्वस्थ व्यक्ति होता है उसका श्वास दीर्घ (लम्बा) रहता है। इसी आयाम का विस्तार, दीर्घ करने का नाम प्राणायाम है। प्राण मन को नियन्त्रित करता है यह हमने उपर्युक्त शास्त्रों से उद्धृत श्लोकों के माध्यम से समझा है। जो योगाभ्यास की क्रियाओं को अपनाता है उसे सहज रूपसे उन्नत स्वस्थ्य, स्फूर्तिवान् शरीर जैसे लाभ हस्तगत हो जाते है। रोगों के निराकरण के लिए 'योग सबसे प्रभावी वैकल्पिक चिकित्सा' है। इसमें किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता है एवं किसी भी आयु वर्ग एवं अवस्था के व्यक्तियों के लिए यह सर्वसुलभ एवं सर्वहितकारी साधन है।

सन्दर्भ

1. युज् समाधौ, दिवादिगण
2. युजीर् योगे, रूधादिगण
3. युज संयमने, चुरादिगण
4. योग विज्ञान- *योग के आधार भूत तत्व*, डा एस पी मिश्र, कुलपति देव सं विश्वविद्यालय, हरिद्वार
5. *चरकसंहिता*, सू. 30/26

6. *अष्टाङ्गहृदय*, सू. 15/41, *सुश्रुत संहिता.* 15/48
7. *विश्व स्वास्थ्य संगठन*
8. *चरक संहिता* 1/15
9. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥
10. सर्वमन्यत परित्यज्य्॥
11. *हठयोग प्रदीपिका*
12. *श्री योग*
13. बाब हार्पर, Bob Harper
14. महर्षि पतञ्जलि, *योग सूत्र* 1/2
15. टी गिलेमेट्स
16. बी. के. एस. आयंगर
17. *भगवद्गीता*
18. *भगवद्गीता*
19. अमित रे
20. बाबा रामदेव जी
21. *बृ. उ.* 1/3/10
22. *कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्* 2/1
23. *कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्*
24. *हठयोग प्रदीपिका* 4/21
25. *गोरक्ष प.* 1/90
26. *छान्दो.* 6/8/2
27. *योग बीज*
28. *योग चूड़ामणि उप.* 108/109

सहायकाचार्य योग, संविदा
राष्ट्रिय संस्कृत संथान, जयपुर परिसर, जयपुर
मो. 95696-64504
ई-मेल:- astronavi2013@gmail.com

जीवन्त जीवन है योग

डॉ. मोनिका वर्मा

यावज्जीवेमः सुखं जीवेमः। प्राणीमात्र की इच्छा होती है कि वह अधिकाधिक सुख। को प्राप्त करें और उसी सुख की प्राप्ति के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। प्रश्न यह उठता है कि सुख क्या है जो इसका सीधा सा उत्तर है—'**अनुकूल-वेदनीयं सुखम्।**' अर्थात् जो हमें अच्छा लगे वह सुख है। हम हमेशा सुख की कामना करते हैं परन्तु अधिकतर ऐसा ही होता है कि हमें वही परिस्थिति प्राप्त होती है जो हमें अच्छी नहीं लगती और बस वहीं थम जाती है हमारी जीवन यात्रा। अवसाद, निराशा, उन्माद, रक्तचाप, हृदयरोग और यहाँ तक कि हम आत्मघात जैसा कदम भी उठा लेते हैं।

सबसे बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि ये सुख और दुःख स्पष्ट नहीं है जिसे हम सुख मानते हैं और उसे प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु जिस मनुष्य के पास वह सारा सुख है वह भी बहुत दुःखी है उसे किसी और लालसा है और उसी लालसा के कारण उसका जीवन थमा है। दुनियाँ भर में मानों मनोरोगों की बाढ़ आ गयी है। इतनी भागती दुनियाँ में भी मानों सब कुछ थम सा गया है। इसका कारण है कि मन नियन्त्रित नहीं, जीवन में सन्तुलन का अभाव है।

मन की साधना ही जीवन की जीवन्तता है, जीवन से जुड़ाव है। वह मन कैसे साधित हो इसका एक उपाय है—'योग'। योग वस्तुतः चिन्तन की शैली है। षट् वैदिक दर्शनों में योग द्वितीय दर्शन है तथा इसका युग्म सांख्य के साथ मिलता है। दर्शन का अर्थ है जीवन को सांगोपांग जानकर चरम लक्ष्य को प्राप्त करना है और वह चरम लक्ष्य है—दुःखरहित अवस्था या मोक्ष।

वैदिक मनीषा इस विचार से ओतप्रोत है कि हम जीवन को ऊर्जावान् बनाते हुए ही दुःखरहित अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं जीवन को ऊर्जा प्रदान करने वाले साधन नैतिक दृष्टि से उपार्जित जीवन जीने के साधन हैं जिन्हें धर्म, अर्थ और काम इस रूप में कहा गया इन तीनों साधनों का सन्तुलित रूप ही हमें मोक्ष को प्राप्त करवाता है। इसीलिए सृष्टि में प्राप्त होने वाले भौतिक अभौतिक सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करवाना ही दर्शन की प्रक्रिया है।

योगदर्शन चेतन और अचेतन के यथार्थ ज्ञान होने पर केवल सुख की स्थिति (कैवल्य) की साधना बतलाने वाला दर्शन है। कैवल्य की स्थिति मन पर निर्भर है क्योंकि मन जब समाधिस्थ होगा तभी पूर्णानन्द की स्थिति प्राप्त होगी, जिसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं होगा अतः 'युजिर् समाधौ' इस अर्थ में योग दर्शन का यह नामकरण प्राप्त होता है। समाधि की प्रारम्भिक अवस्था का जीवन में समावेश करना ही वस्तुतः जीवन को जीना है।

योगदर्शन का स्वरूप अष्टाङ्गात्मक है—**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** अर्थात्, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग इन आठ अंगों वाला है।

इन आठ अंगों में हमारा प्रवेश किस प्रकार हो इसका समाधान दिया गया—**'योगश्चित्तवृतिनिरोधः'** अर्थात् मन की साम्यता से, मन के सन्तुलन से। योग के इस लक्षण में साधन भी योग है तथा साध्य भी योग है अर्थात् मन के सन्तुलन से आठ चरणों वाले योग को अंगीकृत करके हम योग। (समाधि) को प्राप्त कर सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यह तो संन्यासियों वाली सैद्धान्तिक धारणा है जीवन के व्यवहारों में योग की क्या उपयोगिता है? मेरे विचार से जीवन को जीवना सिखाने वाली विद्या है योग, योगविहीन जीवन मृतप्राय है जिसमें जीवन मरीचिका की भाँति छलावामात्र है। योग का समावेश जीवन में नहीं है तो सुख और दुःख का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं होगा क्योंकि हमारे नजरिये से सुख भौतिक है और यही भान हमारे आस-पास के परिवेश को कब यान्त्रिक करते-करते हमें जड़ कर देता है हमें पता ही नहीं चलता और जड़ का यह दिशाहीन भटकाव ही हमारी सभी समस्याओं की जड़ बन जाता है।

योगदर्शन के अनुसार **'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'** ये मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं अर्थात् जानना, जो वस्तु जैसी है उसे वैसा नहीं जानना, जो जाना जा रहा है उसके बारे में तर्क वितर्क करना, निद्रा लेना या जाने गये विषय को याद करना। मन में ये प्रवृत्तियाँ निरन्तर चलती रहती है जिसमें वह कर हम क्षणिक सुखी या दुःखी होकर जीवन को ढालते हैं। ऐसी प्रवृत्तियों वाले मन का परिमार्जन और संवर्धन कर अष्टाङ्ग योग जीवन को व्यवस्थित लय प्रदान करता है।

योग का प्रथम चरण है 'यम' यम का अर्थ है रोकना अर्थात् हमारे द्वारा किये गये वे व्यवहार जो परिवेश को दूषित करते हैं उन्हें नियन्त्रित करना। प्रायः भौतिक साधनों की लालसा में मनुष्य हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, लालच तथा स्त्रियों के प्रति दुराचार जैसे कृत्य करवाती है। इन कृत्यों के कारण समाज का सुन्दर स्वरूप बाधित होता है। समाज के सुन्दर संगठन के लिए **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** रूपी यम नामक प्रथम अंग का पालन अपेक्षित है। यम सार्वभौमिक महाव्रत है जो न केवल सामाजिक समरूपता अपितु वैश्विक ग्राम की स्थापना के सुदृढ़ पञ्चस्तम्भ है।

समाज से व्यक्तियों का समूह है और मनुष्य के व्यक्तित्व को परिष्कार **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः** इप पञ्चनियमों से सम्भव है जो द्वितीय योगाङ्ग है। स्वच्छता, प्राप्त साधनों में प्रसन्नता, दृढ़ता, अर्जितज्ञान का मनन तथा जीवनदायक तत्त्वों के प्रति कृतज्ञता का भाव ऐसे आचरणों का यदि प्रत्येक के व्यक्तित्व में समावेश हो जाये तो जीवन सदैव ऊर्जस्वी प्रवाह से गतिमान् रहेगा।

हमारा शरीर हमारे जीवन का आधार है अतः शरीर का स्वस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। हम देखते हैं कि प्रत्येक यन्त्र एक निश्चित स्वरूप में होने पर ऊर्जा की उत्पत्ति करता है तथा वह ऊर्जा हमारे कार्यों का

सम्पादन करती है। इसी विचार का ग्रहण करके शरीर की स्थिति के अलग-अलग स्वरूप निर्धारित किये गये जिससे हमारा शरीर ऊर्जावान् बने। शरीर की स्थिति को एक निश्चित मुद्रा में स्थिर करना आसन है तथा आसनों के प्रयोग से होने वाले लाभ से कौन अपरिचित है। आसनों का प्रयोग मनुष्य के जीवन में सन्तुलन लाता है—**ततो द्वन्द्वानभिघातः।**

विविध शारीरिक क्रियाओं का संचालन श्वसन से होता है तथा श्वसन स्वतः चलने वाली क्रिया है प्रायः शरीर में विकृति होने पर या मन के व्याकुल होने पर या क्रोध, चोरी आदि करते समय श्वसन असामान्य हो जाता है। योग का चौथा अंग 'प्राणायाम', प्राणों के नियमन का निर्देश देता है। यह भी व्यवहारगम्य है कि प्राण देने वाली अनियन्त्रित वायु तूफान के रूप में जीवन को नष्ट भी कर देती है वायु का नियन्त्रित स्वरूप ही जीवन को सुन्दर बनाता है। वायु का यही स्वभाव हम अपने श्वसन में प्रयुक्त करके अनेक प्रकार के आवेशों को नियन्त्रित कर सकते हैं।

प्रत्याहार का अर्थ है विषयों के पीछे न भागकर मन को एक जगह पर स्थिर करना। प्रायः देखा जाता है कि सफलता कुशाग्र बुद्धि से प्राप्त होती है तथा एकाग्र मन से ही बुद्धि कुशा के अगले भाग के समान तीव्र होती है। जैसे-जैसे हम श्वसन को नियन्त्रित करते हैं, मन की जानने की योग्यता तीव्र हो जाती है और यही तीव्रता कर्मकुशलता के रूप में प्रकट होती है।

जब मन धीरे-धीरे एकाग्र होने लगता है उस अवस्था में उस एकाग्रता की दृढ़ता ही धारणा है तथा जो मन में विचार हैं उसी का ही अनन्य चिन्तन ध्यान है तथा वह ध्यान मन में प्राप्त होने वाले कषायों को धीरे-धीरे दूर करता है और जैसे-जैसे ध्यान दृढ़ होगा मनुष्य स्वयं में लीन होता जायेगा। जीवन में आने वाले परिवर्तन उसको प्रभावित नहीं करेंगे और जीवन अपनी मन्द-मन्द धारा में आनन्द का अनुभव करते हुए सदा जीवन्त रहेगा।

योग क्रियामात्र नहीं है, अपितु मानसिक दृढ़ता, आचरण की दृढ़ता, शरीर की दृढ़ता, प्राणों, चिन्तन की दृढ़ता के साथ स्वयं को जानने का साधन है। जीवन तृष्णा में भागते रहने का नाम नहीं, ईर्ष्या में जलने का नाम नहीं, हिंसा में मिटने का नाम नहीं अपितु संतोष, मैत्री और प्रेम से आत्मोन्नति को प्राप्त करने का अवसर है। जीवन को जीवन्त बनाना ही योग का उद्देश्य है। मरण तो अवश्यम्भावी है परन्तु हम जी क्यूं रहे हैं यह जानना योग है क्योंकि ये सभी अंग आत्मा को स्वयं में लीन ही नहीं करते सभी कषायों से मन को निर्मल भी बनाते हैं।

सहायक आचार्य,
डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय,
कडवड, नागौर रोड,
जोधपुर-342037
दूरभाष : 9799415351

AVATARA IN THE DURGA SAPTA- SHATI AND GITA

Dr. Chaman Lal Raina

Gita Jayanti program is held on the Marga Shirsha Shukla Ekadashi. It was on this day that the Sanjaya narrated to the blind King Dhritrashtra the dialogue between Lord Krishna and Arjuna, and thus made the universal teachings of the Lord available to the world, for all times to come. I recollect the year 1955, when on the same day, I also entered in the Gita Recitation competition, held at Shri Sanatan Dharma Pratap Sabha Lal Chowk,Srinagar. There wewre at least 30 contestants, all from the High School or college. I was from the Ist year College student then. I was asked to recite any Shloka from the *Bhagwadgita* very dear to me. I recited the 41st Shloka of the 11th chapter,which runs as:

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥

Later, I was asked to give its translation in Hindi,which I did to the satisfaction of the committee, sponsoring the Gita Jayanti program,then. This program did continue in that Sabha till late seventies. Since this Shloka is very interesting, written in simple words, easily understandable , but this in essence is the Bija Mantra of the Gita, as I understand it now.This Mantrik Shloka is in close proximity with the Karma Yoga, as Arjuna learnt from the Yogiraja Krishna, in the battle field of Kurukshetra. Before realizing the Avatiirana--descent of Lord Krishna, Arjuna as usual would address Him as sakha/friend, Krishna or yaadava, in his right of being his friend and brother-in-law,unaware of the fact of His descent to uphold Dharma. All these names were said out of pramāda/negligence or may be through praṇaya/fondness.These are the words of the aspirant Arjuna,after seeing his Vishwarupa Darshana/universal form,through his intuitive eyes, and there is no hiding, nothing secret, when there is Shradha/devotion and Vishwas/faith.Through

that intutive visualization of the cosmic form of the Divine in Descent,Arjuna made a humble submission to the Lord for expressing many informal gestures.The Lord is always with us ,only we need to recognize his descent, feel his presence and visualize his radiance. Shri Krishna refers to the "Maatri-Tattva"--motherhood og God as under, which needs to be studied in the light of the *Durga Sapta Shati*, though there is no direct reference to Durga in his Vishwarupa Darsghan, but Lord Krishna says :

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।

— *Bhagwadgita,* Chaper 10 Shloka34

Among the womanhood, I am to be seen in their कीर्तिः/fame, श्री/fortune, वाक्च/ fine speech, स्मृतिः/memory, मेधा/intelligence, धृतिः/ steadfastness and क्षमा/patience, forbearance ,forgiveness.All these epithets are found in the Shri Chandi--popularly revered as the Durga Sapta Shati.

Yada Yada Hi Dharmasya Glaanir Bhavati Bharata
Abhyut-thanam Adharmasya Tadaatmaanam Srijaamiaham
Paritraanaaya Saadhunaam Vinaashaya Cha Dushkritaam
Dharma Sanasthaapanaarthaaya Sambhavaami Yuge Yuge

— (Bhagvadgita Chapter 4, Shloka 7-8)

Bhagawaan Shri Krishna declares of his designated Descent, known as AVATARA of the Absolute Reaqlity in the battle-field of Kurukshetra.Avatara is purely a Hindu concept.*How?* Hindus believe that God is both transcendent and immanent. God incarnates in the human form, to save the suffering humanity from the great terror of the evil in man,. *The Mahabharata* war happened to be the deciding factor for the Pandavas and Kauravas, about the parental dispute of their kingdom, for being rightful inheritor of the kingdom of Shantanu, the descendent of Bharata,who was the trust worthy just king of the Arya-Vartta. Lord Krishna played the role of the SAVIOR, as promised in the *Bhagwad Gita*. In the Sanatana Dharma , Avatara is not only a concept, but the acclaimed Truth about the descent of the Divine Being. The same declaration has been made by MAHAMAYA, popularly revered as Shri Durga, in the 8th Manvantara, much before before the Mahabharata

war took place.The *Markandeya Purana*,establishes the descent of Shri Durga,for killing the nine Rakshasas-Madhu, Kaitabha,Mahishshasura, Dhumralochana, Chanda-Munda Raktabija,Shumbha and Nishumbha.Thus the Mahamaya is revered as the Nava Durga.Shri Krishna is not only the incarnation of Maha-Vishnu, but he is seen with all the potentials of the Yogiraja., as described in the *BHAGVATAM*. He is revered as the Lord of Yoga. He was the Great Yogi, who excelled much before the Patanjali's Yoga system, because Patanjali came much later after Shri Krishna. But Shri Krishna's Yoga was in confirmation to the Yoga, as taught by Rishi Vasishtha to Shri Rama, the Avatara of the Treta Yuga. *Yoga Vasishttha* is the authoritative scripture on Yoga, in relation to God, man and Universe. Shri Krishna is adored as the Yogiraja , by all the denominations of the Sanatan Dharma, with all reverence and adoration, as the Savior of the Pandavas . Yogiraja means the king of the Yogis, or the Supreme Sovereign Yogi. There is no evidence that he underwent any Yogic practice, when he made the miracles of the highest order, when he was merely a new born baby. He showed the Chaturbhuja Narayana Roopa Darshan to his father Vasudeva, which he forgot, after performing his obligation to leave the Baby Krishna at the bed of Yashoda, popularly known as Jasodha Mata/ *maiya*.The moment Lord Krishna was born, at the same moment Mahamaya-Vindhyavasini Durga was born from the womb of Yashoda/Jasodha. When Jasodha felt that she gave birth to the male baby, his own daughter, in the incarnation of Durga,was carried away by Vasudeva in the prison cell. Lord never assumes human form without his Shakti. Therefore, Krishna and Kali are one, according to the Shakta scriptures.Kali is noneelse but the Vindyavasini DurgaHow?When we turn the pages of the *Durga Sapta Shati*—the highest reverential book on the Shaktivad, we come across the word MAHAMAYA. It should never be taken as great illusion but 'Sat-Chit- Ananda' of the Absolute. The Mahamaya/ Krishna is also revered as YOGA-Nidra by Lord Brahma, after he was rescued by VISHNU, from the deadly usurping mouths of Madhu and Kaitabha Rakshasas, when he was just born from the lotus navel of Shri Vishnu.The moment Brahma was born, he was about to be killed by two ferocious Rakshasas, namely Madhu and Kaitabha.It was unfortunate for Brahma to see Vishnu in great slumber or deep sleep. Brahma never knew at that time that Vishnu/ Lord Krishna was in the Samadhistha Yoga, which is termed as

Yoga Nidra in Samadhi . Vishnu was not sleeping at all, or taking any sort of rest, because it was neither day nor night, nothing could be deciphered at that moment. All was in the process of evolution. Vishnu was rather absorbed in his Yoga, after given birth to Brahma. But Brahma for himself could not withstand the wrath of two demons. Therefore, he cried and cried, spontaneous were his words, with tears in his eyes. He uttered the Word SVAHA, SVADHA, VASHATKARA. He did not utter AUM at that time. He cried for " Nitya Akshara", which means eternally immutable sound/Shabda Brahman. Svaha is an invocation to the Divine Being, the Lord of sustenance, but Svadha is an oblation for the departed ones. Brahma was not clear in his mind, about the very being of Vishnu. He was too frightened to speak with any definite form or figure. He was caught in great AVIDYA, or the whirlpool of anxiety how to recognize his own creator. Since Brahma's 'cry' was pure in intent, as it was concerning his life, so Vishnu recognized his cry, roused from his Yoga Nidra and appeared before Brahma with his Four arms which has been described by the Veda Vyasa as:-

Shantaakaaram Bujaga Shayanam Padma Naabham Suresham
Vishvaadhaaram Gagana Sadrisham Megha Varnam shubhangam
Lakshmi Kaantam Kamal Nayanam Yogibhir Dhyaana Gamyam
Vande Vishnum Bhava Bhaya Haram Sarva Lokaika –Naatham

I bow to Vishnu, who is supremely serene.His coach is Ananta—the serpent king. Brahma rests on his lotus navel. He is the fountain head of this universe, and is infinite in his innate nature. His hue is like that of the clouds in the sky. He is the consort of Shri Laksmi. His eyes resemble that of a lotus. He is being meditated upon by the Yogis. He alone is the Lord of this Universe. It is he, who destroys all the evils in the world.

Concept of Om - Painting

The concept of SerialTime starts,from the birth of Lord Brahma,otherwise allwhich is infinite and beginningless is Eternal Time--the Anaant Kaala.Vishnu fought himself for 5000 celestial years for saving the life of Brahma. This is the revelation by Medha Rishi, first in line of the Shakta Tradition. Vishnu deluded the Rakshas by saying them: "O demons! You are great, ask for a boon, and I promise

to grant that boon to you." They asked not to be killed in water or in the sky', as they could visualize that two elements alone. Thus Shri Krishna chose to kill them on his thighs for saving the life of Brahma.Brahma praised with the words:

SaShankha Chakram Sakirit Kundalam,
Sapeet Vastram Sarsi Ruhekshanam
Sahar Vaksha Sthala Kaustubha Shriyam
Namami Vishnum Shirsaa Chaturbhujam

I bow to Krishna, who is having a conch, a crown,a pair of ear rings, he is adorned with yellow garments. His eyes are but the two lotuses. He has lovely garland of Kaustubha flowers. He is having four arms.The same Vishnu got incarnated as the son of Devaki and Vasudeva in the prison cell of MATHURA, ruled by the Evil Kansa . Kansa, who was none else but Madhu Rakshasa, born in the Dwapar Yuga some six thousand and more years ago. He was the Maternal uncle to Krishna,. He wanted to kill that BABY KRISHNA, as being the 8th offspring of Devaki and Vasudeva. Born at the ROHINI Nakshatra at the time of moon rise on the 7th Tithi of the dark fortnight of Badarpada, Lord descended, to relieve the masses from great suffering , atrocities, humiliation to the womanhood at the hands of Kauravas.

Lord Krishna is revered by the cross section of humanity for being rational in his outlook, as is evident from the translations of the *Bhagwad Gita* in the major languages of the world.The best translation in Urdu poetry has been authored by Professor DIL MOHMAD, of the then Lahore College. His DIL KI GITA has been transliterated in the Devanagri script as well. Best Persian translation has been made by Abul Fazal at the time of Akbar. *GITA RAHASYA* by Loka Manya Bal Gangadhar Tilak is considered as the master peice reference book on the political thought of Shri Krishna on the basis of Spirituality. This book was authored by Tilak ji, in the KALAPANI Jail.Commentaries on *Bhagwadgita* are innumerable. Sri Aurobindo's work on Gita is based on the integral yoga.Iqbal was also in praise of Shri Krishna. He considers him as the most intellectual personality of India, this is documented in his preface to his Persian work ASRARI -KHUDI.Dr. Radhakrishnan has also annotated and translated the *Bhagwadgita* in English. Prabhupad has written

extensively on the *Bhagwadgita*.To conclude, *Bhagwadgita* given by Shri Krishna belongs to the world, Shri Krishna belongs to those who want to know the beauty of *NISH KAMA KARMA YOGA, STHITA PRAJNA* stateof mind.This iswhat the Avatara teaches ,when the Transcebdental Brahman/Reality descends for establishing Dharma.Therefore the concluding Shloka of the Bhagwadgita suggets:--

Yatra Yogeshvarah Krishna Yatra Partho Dhanurdhara
Tatra Shri Vijayo Bhutir Dhruva Nitir Matir Mama.

Wherever there is God incarnate Krishna, being the very Sovereign Master of Yoga; wherever there is Arjuna-the wielder of the bow..., there will be Shri/auspiciousness, Vijaya/victory. This is the verdict, as said by Sanjaya--the impartial and independent witness to the dialogue between Shri Krishna and Arjuna.Arjuna was in distress and depression, he did not like to kill his cousins turned enemies, even after Draupadi was humiliated in the court of Dhritrashtra, before Bhishama--the grandsire, and Draunacharya, the Guru of the Pandavas and Kauravas. He was despondent, and he was made Sthitapragnya by Shri Krishna to fight the very source of the evil. Evil in any way needs to be eliminated, says Krishna to Arjuna.Shri Durga also descends time and again for killing the Mahishasura like evil forces for establishing the Dharma.

Ex-Professor,
Florida International University
2 KHA 19, Shastri Nagar,
AJMER-305001
Tel. : 01452-621432